शोधादर्श

५२ 52

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

आद्य सम्पादक : (स्व.) डॉ. ज्योति प्रसाद जैन
प्रधान सम्पादक : श्री अजित प्रसाद जैन
सह – सम्पादक : श्री रमा कान्त जैन

प्रकाशक :
तीथकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ. प्र.
पारस सदन, आर्य नगर, लखनऊ– २२६ ००४

णाणं णरस्स सारं- सच्चं लोयम्मि सारभूयं

शोधादर्श -५२

वीर निर्वाण संवत् २५३० मार्च २००४ ई.

विषय क्रम

१.	गुरुगुण–कीर्तन : श्री नाथूराम प्रेमी	श्री रमा कान्त जैन	१
२.	जैन गुफाएं तथा गुहा मंदिर	डॉ. ज्योति प्रसाद जैन	८
३.	सम्पादकीय : धार्मिक पत्रकारिता	श्री अजित प्रसाद जैन	११
४.	सामयिक परिदृश्य: क्षणिकाएं	श्री रमा कान्त जैन	२०
५.	चिन्तन एक अनुभूति	श्री सुरेश जैन 'सरल'	२०
६.	एसो पंच णमोयारो–सूत्र से मंत्र	जस्टिस एम. एल. जैन	२१
७.	जै महावीर	श्री दयानन्द जड़िया 'अबोध'	२७
८.	'अरिहंत' या 'अरहंत'	डॉ. शशि कान्त	२८
६.	सामान्य केवली और अर्हन्त पद : एक समीक्षा	साध्वी विजय श्री 'आर्या'	३३
१०.	स्वाध्याय करें	श्री मनोहर मारवडकर	३७
११.	चिन्तनकण : परमेष्ठी नमस्कार मंत्र	श्री अजित प्रसाद जैन.	३८
१२.	शाकाहार : महत्त्व एवं उपयोगिता	डॉ. शैलबाला शर्मा	४२
१३.	स्वास्थ्य चर्चा : अच्छे स्वास्थ्य के लिए, ताली बजाना काफी	(संकलित)	४७

१४. कल्पप्रदीप में वर्णित कुंडुगेश्वरनाभेयदेवकल्प
का समीक्षात्मक अध्ययन — डॉ. शिव प्रसाद — ४८
१५. जर्मन विदुषी डॉ. शार्लोटे क्राउजे की नज़रों में
जैन समाज की वर्तमान स्थिति — श्री मांगीलाल भूतोड़िया — ५३
१६. सूचना– पत्राचार प्राकृत पाठ्यक्रम — ५८
१७. मैं चेतन हूँ, छल सकता है
मुझे जीवन व्यापार नहीं — डॉ. महावीर प्रसाद जैन 'प्रशान्त' — ५९
१८. साहित्य सत्कार :
श्रीपाल चरित; अतिशयों का भंडार
(तीर्थंकर महावीर की टीले वाली मूर्ति); शाकाहारी क्यों?;
ज्ञान का सागर; मिला प्रकाश : खिला बसन्त;
First Steps to Jainism (Parts I & II) — श्री अजित प्रसाद जैन — ६०
सत्य और जीवन; जैन–दर्शन में द्रव्य; कम्पिल गौरव;
तुलसी; मांसाहार ख़तरा–ए–जान — श्री रमा कान्त जैन — ६३
१९. समाचार विमर्श : — श्री अजित प्रसाद जैन
गुरु भवन — ६५
निर्वाण लाडू — ६५
महासभा का प्रस्ताव : उपगूहन
फिर बना श्रमण शिथिलाचार का रक्षक — ६७
२०. शंका–समाधान :
(१) श्री शांतिलाल बैनाड़ा की शंकाएं — ६९
(२) श्री कैलाशचंद जैन की शंकाएं — ७१
२१. भूल सुधार — ७१
२२. समाचार विविधा — ७२
२३. अभिनन्दन — ७४
२४. शोक संवेदन — ७६
२५. आभार — ७७
२६. पाठकों के पत्र — ७८
२७. सूचना– डॉ. नेमिचन्द जैन पुरस्कार — ८६

श्री नाथूराम प्रेमी

'प्रेमी' प्रभु-पद-पद्म के, नेमी तत्त्व-विचार।
जियहु-जियहु, जुग-जुग जियहु, सह 'श्रावक'-आचार।।

- प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ २६

उपर्युक्त दोहे में देवरी निवासी बुद्धिलाल 'श्रावक' ने अपने बाल-बन्धु जिन प्रेमी जी के जुग-जुग जीने की शुभकामना की है, उन नाथूराम प्रेमी जी के नाम से हिन्दी जगत और जैन जगत आज कितना परिचित है, कहना कठिन है। किन्तु अपने समय में प्रेमी जी का हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकारों और जैन समाज के दिग्गज विद्वानों के बीच कितना नाम और सम्मान था इसका अच्छा परिचय उनको समर्पित अभिनन्दन ग्रन्थ से होता है। अक्टूबर १९४६ में प्रकाशित यह ग्रन्थ मेरे बाल्यकाल में हमारे घर आया था। उसमें अन्य अनेक गणमान्य विद्वानों के साथ मेरे पिताजी डॉ. ज्योति प्रसाद जैन का लेख भी प्रकाशित हुआ था। तभी से मैं प्रेमी जी के नाम से परिचित रहा हूँ। पिताजी के साथ उनका पत्र-व्यवहार भी था। प्रेमी जी का **'जैन साहित्य का इतिहास'** और उनके द्वारा सम्पादित-प्रकाशित बनारसीदास का **'अर्धकथानक'** आदि पुस्तकें पिताजी के पुस्तक संग्रह में अभी भी संग्रहीत हैं। 'वीर सेवा मंदिर', सरसावा से प्रकाशित एक गुटके में संकलित प्रेमी जी की दो रचनायें-"मुझे है स्वामी उस बल की दरकार" और 'दयामय ऐसी मति हो जाय। त्रिभुवन की कल्याण कामना, दिन-दिन बढ़ती जाय।।" मेरे बाल-मन को ऐसी भायीं कि वे आज भी मेरी नित्य-प्रार्थना की अंग बनी हुई हैं।

अगहन सुदी ६ संवत् १९३८ अर्थात् अक्टूबर सन् १८८१ ई. में मध्य प्रदेश के सागर जिले में देवरी नामक कस्बे में एक साधारण परवार वैश्य, दिगम्बर जैन परिवार में जन्मे और ३० जनवरी, १९५८ ई., को महानगरी मुम्बई में दिवंगत हुए श्री नाथूराम प्रेमी का ७७ वर्ष का प्रायः सम्पूर्ण जीवन काफी संघर्षमय रहा। उनके पिता श्री टूंडेलाल मोदी इतने सरल और सीधे व्यक्ति थे कि साहूकारी में जो कुछ लगाया उसे कभी वसूल न कर सके, लहना-पावना सब डूब गया। खेती भी चौपट हो गई और धीरे-धीरे गृहस्थी की हालत इतनी गिर गई कि खाने-पीने तक का ठिकाना न

रहा। अतः प्रेमी जी का बाल्यकाल विपन्नावस्था में ही बीता। छठी कक्षा उत्तीर्ण करते ही पहली कक्षा पढ़ाने के लिये डेढ़ रुपये मासिक की मानीटरी करनी पड़ी। घर पर पढ़कर टीचर्स ट्रेनिंग पूरी कर सत्रह-अठारह वर्ष की आयु में एक गांव में ६ रुपये मासिक पर नायब मुदर्रिस (सहायक अध्यापक) का काम करने गये। बाद में सात रुपया महीना मिलने लगा। उसमें से अपना खर्च तीन रुपये में चलाकर चार रुपये घर को खर्च के लिये भेज देते थे। अध्यापकी का कार्य करते समय अपनी तरुणाई में नाथूराम जी को देवरी के अमीर अली 'मीर' के संसर्ग में कविता करने का शौक हुआ और वह 'प्रेमी' उपनाम से कवि रूप में साहित्यिक रंगभूमि में उतरे। उनकी रचनाएं 'रसिक मित्र', 'काव्य सुधाकर' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं। लगभग दो वर्ष अध्यापकी का कार्य खिमलासा, ढाना और बंडा आदि विभिन्न ग्रामीण विद्यालयों में करने के पश्चात सन् १९०१ में वह पच्चीस रुपये मासिक वेतन पर बम्बई प्रान्तिक सभा में क्लर्क के पद पर कार्य करने मुम्बई चले गये।

उस समय बम्बई प्रान्तिक सभा में 'जैन मित्र' पत्र का कार्यालय, उपदेशकी विभाग और तीर्थक्षेत्र कमेटी का कार्यालय था। यह कार्यालय भोईबाड़े में जैन मंदिर के ऊपरी भाग में था। सभा से पं. पन्नालाल बाकलीवाल, पं. धन्नालाल काशलीवाल और सेठ माणिकचंद्र जैसे विद्वान और समझदार व्यक्ति जुड़े हुए थे। अपनी सुन्दर हस्तलिपि के कारण क्लर्क पद के लिये चयनित प्रेमी जी को चिट्ठी-पत्री लिखने, रोकड़ सम्हालने और 'जैन मित्र' मासिक के सम्पादन से लेकर पत्रों को लिफाफे में बंद करना, टिकट चिपकाना, डाकखाने में जाकर डाल आना तक सब कार्य अकेले करना पड़ता था। उस कार्यालय में वह एकमेवाद्वितीय थे। 'जैन मित्र' के सम्पादक पं. गोपालदास बरैया मोरेना चले गये थे। सम्पादकीय लेख के लिये वह प्रेमी जी को विषय-निर्देश कर देते थे, पर लेख प्रेमी जी को तैयार करना पड़ता था। इस कार्यभार को वहन करते हुए प्रेमी जी को लेखन का ऐसा अभ्यास पड़ा कि उन्होंने तत्समय मुद्रित हो रहे **'ब्रह्मविलास'** की भूमिका लिख डाली और **'दौलत पद संग्रह'**, **'जिनशतक'** और **'बनारसी विलास'** आदि पुस्तकों का सम्पादन भी कर डाला। बम्बई प्रान्तिक सभा के उक्त कार्यालय में तीन वर्ष तक कार्य करने के उपरान्त एक दिन अपने स्वाभिमान पर चोट पड़ने पर उन्होंने तत्काल उक्त नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और सभा के पदाधिकारियों और पं. गोपालदास बरैया के बहुत समझाने पर भी उन्होंने केवल 'जैनमित्र' का सम्पादन कर देना स्वीकार किया। उक्त तीन वर्ष का

कार्यकाल प्रेमी जी की प्रतिभा के विकास का सोपान बना। कार्यालय समय के उपरान्त उन्होंने जैन मंदिर की पाठशाला में संस्कृत का अभ्यास किया; गुजराती और मराठी सीखी, तथा पं. पन्नालाल बाकलीवाल से बंगाली का ज्ञान प्राप्त किया।

बीसवीं शती के प्रारंभ में समाज में धार्मिक ग्रन्थों के छापे जाने के विरोध में आन्दोलन तीव्र गति पर था और जिनालयों में प्रकाशित ग्रन्थ रखने पर प्रतिबंध था। ऐसे समय तेइस-चौबीस वर्षीय युवा प्रेमी जी की दृष्टि कितनी सुलझी हुई थी और वह कितने सुधारवादी थे इसका उदाहरण है कि उन्होंने न केवल 'जैन मित्र' कार्यालय की अलमारी में सेठ रामचन्द्र नाथा द्वारा प्रकाशित **'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा'** और **'पंचाध्यायी'** आदि ग्रन्थों की प्रतियां रख लीं अपितु जैन मंदिर के पुजारियों द्वारा वहाँ दर्शन हेतु आने वाले सेठ-श्रीमन्तों के लिये की जाने वाली ठकुरसुहाती के विरोध में 'पुजारीस्तोत्र' नामक एक व्यंग्य लेख लिखकर 'जैन मित्र' में मुखपृष्ठ पर छाप दिया। इससे तिलमिलाये पुजारियों के रोष का भाजन उन्हें होना पड़ा और उनके आफिस का सामान सड़क पर फेंक दिया गया जिसे सभा के अध्यक्ष सेठ माणिकचंद्र की कृपा से हीराबाग में बने उनके नवनिर्मित भवन में तुरन्त स्थान मिल गया।

बम्बई प्रान्तिक सभा से त्यागपत्र देने के उपरांत प्रेमी जी ने स्वतंत्र व्यवसाय का निश्चय किया। सर्वप्रथम उन्हें रामचन्द्र जैन ग्रन्थमाला से गुजराती **'मोक्षमाला'** का अनुवाद कार्य मिला जो उन्होंने पन्द्रह-बीस दिन में सत्तर-अस्सी रुपये पारिश्रमिक पर पूरा कर दिया। 'जैन मित्र' का सम्पादन तो उन्होंने स्वीकार कर ही लिया था और उसे नाममात्र पारिश्रमिक पर वह लगन से कर भी रहे थे कि पं. पन्नालाल बाकलीवाल ने जैन ग्रन्थों के प्रकाशन हेतु स्थापित अपनी संस्था 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' और उसके मुख पत्र 'जैन हितैषी' मासिक के सम्पादन से भी प्रेमी जी को जोड़ लिया। बाकलीवाल जी ने शीघ्र ही उक्त प्रकाशन संस्था और उस पत्र का सम्पूर्ण दायित्व और स्वामित्व अपने भतीजे छगनमल के साथ प्रेमी जी के कंधों पर डाल दिया। प्रेमी जी के सम्पादकत्व में 'जैन हितैषी' की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ी कि उसकी तुलना तत्समय प्रतिष्ठित हिन्दी मासिक 'सरस्वती' से की जाने लगी।

जहाँ 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' और तदनन्तर अपने आश्रयदाता एवं प्रेरणास्रोत सेठ माणिकचंद्र की स्मृति में स्थापित 'माणिकचंद्र-दिगम्बर-जैन-ग्रन्थमाला' के माध्यम से प्रेमी जी ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के अनेक अलभ्य अनुपम दिगम्बर जैन ग्रन्थों के सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित कर दिगम्बर जैन

वाङ्मय की अभिवृद्धि की, वहीं हिन्दी भारती का भण्डार भरने हेतु उन्होंने पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा **'स्वाधीनता'** नाम से अनुदित जॉन स्टुअर्ट मिल की **'लिबर्टी'**, जो पहले माधवराव सप्रे द्वारा प्रकाशित की गई थी और अप्राप्य थी, का, ब्रिटिश सरकार का भय होते हुए भी, प्रकाशन कर २४ सितम्बर, १६१२ ई० को 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' का श्रीगणेश किया जिसका मृत्यु-पर्यन्त संचालन करते रहे। उन्होंने 'हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर' के माध्यम से न केवल बंगाली, गुजराती और मराठी की उत्तम कृतियों के उत्तम अनुवादों के प्रकाशन से हिन्दी भारती को समृद्ध किया, हिन्दी के अनेक उदीयमान लेखकों की प्रथम कृति अपने यहां से प्रकाशित कर उन्हें हिन्दी साहित्य जगत में स्थापित किया। प्रेमचंद जी की **'नवनिधि'** और **'सप्त सरोज'**, जैनेन्द्र जी की **'परख'** और रामचन्द्र वर्मा की **'सफलता और उसकी साधना के उपाय'** 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' की ही देन हैं। श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी ने लिखा है- ''प्रेमी जी के कारण साहित्य की ओर मेरी अनुराग-वृद्धि हुई, और उन्हीं के कारण मै हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में **'प्रायिश्चत'** नामक नाटक लेकर प्रविष्ट भी हुआ।'' श्री किशोरीदास बाजपेयी ने उन्हें अपनी भाषा का निर्देशक माना और श्री जैनेन्द्रकुमार व श्री रामचन्द्र वर्मा ने उनसे सम्पर्क होना अपना सद्भाग्य। प्रेमी जी की साख एक ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ प्रकाशक के रूप में रही। किसी लेखक को अपनी कृति उन्हें सौंपकर पछताना नहीं पड़ा। प्रेमी जी ने, जैसा कि उनके पुत्र हेमचन्द्र मोदी ने लिखा था, कभी किसी ऐसी पुस्तक को नहीं छापा जिसका उद्देश्य केवल पैसा कमाना हो और न ही लोभ में पड़कर कभी कोई ऐसा कार्य किया जो नीति की दृष्टि से गिरा हुआ हो। कभी ऐसा कोई मौका आता तो वह कह देते-''जरूरत पड़ने पर फिर मैं एक बार छह रुपये महीने में गुजारा कर लूंगा, पर कमाई के लिये यह पुस्तक नहीं छापूंगा।'' प्रकाशन के लिये स्वीकार की गई कोई पुस्तक उनके हाथों आकर सदोष नहीं रह सकती थी। वह भाषा देखते थे, भाव देखते थे, पंक्चुएशन (विराम चिन्हीकरण) देखते थे, छपते समय प्रूफ पूर्ण सावधानी से देखते थे। किसी ओर प्रमाद या असावधानी नहीं रहती थी। यही कारण था कि उनकी पुस्तकों का विशेष आदर होता था और बड़े-बड़े लेखक अपनी रचना 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' से प्रकाशित कराने को लालायित रहते थे। अपने सरल-सादे और मितव्ययी स्वभाव और जीवन के कारण उन्हें कभी किसी अच्छे ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिये रुपयों का टोटा नहीं पड़ा, और न ही कभी किसी प्रेस वाले या कागज वाले का पैसा उधार रक्खा। उनके द्वारा

स्थापित 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' आज भी विद्यमान है और उसका संचालन वर्तमान में उनके प्रपौत्र मनीष मोदी कर रहे हैं।

अपने अध्यवसाय से ज्ञान और व्यवसाय को बढ़ाने वाले, सादगी से गृहस्थी की नौका खेने वाले प्रेमी जी को रोग-शोक अनेक सहने पड़े। ५१ वर्ष की वय में २२ अक्टूबर, १९३२ को उनकी जीवनसंगिनी रमाबाई उनका साथ छोड़ गईं और ६० वर्ष की वय में जब कुछ विश्राम लेनें का अवसर आने को हुआ उनका एकमात्र और होनहार युवा पुत्र हेमचन्द्र मोदी अपनी पत्नी चम्पाबाई और दो छोटे पुत्रों - विद्याधर और यशोधर - का भार उनके बूढ़े कन्धों पर छोड़ उनसे १६ मई, १९४२ को विदा ले गया। पौत्रों के मोह के कारण प्रेमी जी का जीवन-संघर्ष अन्त तक ज्यों का त्यों बना रहा।

कवि रूप में साहित्य की रंगभूमि में अवतरित प्रेमी जी, जिन्होंने बीसवीं शती के प्रारंभ में अपनी रचनाओं से समाज में नये युग का आह्वान किया था, कवियों को नई दिशा दिखाई थी, सरल-सुबोध भाषा में अपने उदात्त और उदार भावों को अभिव्यक्त कर कविता को नई शैली और कल्पना को नये पंख प्रदान किये थे, की काव्यसाधना बहुत अधिक समय तक नहीं चली। शीघ्र ही कवि 'प्रेमी' के जीवनदीप की स्निग्ध आभा को उन पंडित नाथूराम जी की प्रखर प्रतिभा के सूर्य ने मंद कर दिया जो प्रकाण्ड विद्वान, धारदार लेखक, दक्ष सम्पादक, इतिहासज्ञ, विचारक और सुयोग्य प्रकाशक के रूप में उभरी। स्वयं प्रेमी जी ही उस कवि को 'अतीत का गीत' मानने लगे। उन्होंने साहित्य का भी निर्माण किया और साहित्यकारों का भी। 'जैन मित्र' और 'जैन हितैषी' पत्रों का सम्पादन करते समय उनकी लेखनी से प्रसूत सुलझे, निर्भीक, रूढ़ि-भंजक और असाम्प्रदायिक विचारों वाले अनेक लेखों ने वर्षों तक पाठकों को मुग्ध किया। अन्याय उनको सहन नहीं था और उसके विरोध में आवाज उठाने में वह चूकते नहीं थे। सन् १९१८ में देवरी में मध्यप्रदेश के तत्कालीन चीफ कमिश्नर बेंजामन राबर्टसन का दौरा हुआ। उनकी रसद के इन्तजाम के नाम पर तहसील के सिपाहियों ने देवरी तथा निकटवर्ती देहातों में खूब लूटपाट की। संयोग से प्रेमी जी भी उस समय देवरी आये हुए थे। उनसे लोगों की तबाही नहीं देखी गई। उन्होंने कानपुर के 'प्रताप' नामक पत्र में 'देवरी में नादिरशाही, चीफ कमिश्नर का दौरा और और प्रजा की तबाही' शीर्षक से लेख भेज दिया जिसके छपते ही खलबली मच गई और तहकीकात की गई। लेखक को मुकदमा चलाने की धमकी दी गई। किन्तु बात सच थी, अतः

उचित मुआवजा देकर लोगों को शान्त किया गया। बताते हैं कि देवरी के इतिहास में राज्य कर्मचारियों की ज्यादती का प्रतिरोध समाचार-पत्र के माध्यम से करने का यह पहला ही अवसर था।

प्रेमी जी विधवा-विवाह के समर्थक थे। उन्होंने समाज में इसके प्रचार के लिये समय-समय पर यथेष्ट आन्दोलन किया। यही नहीं, सन् १६२८ में अपने अनुज नन्हेलाल की पत्नी का स्वर्गवास हो जाने पर उन्होंने, जाति बहिष्कार की धमकियों की परवाह न कर, उसका विवाह हनोतिया ग्राम निवासी एक बाइस वर्षीय परवार जातीय विधवा के साथ कराकर अपने विधवा विवाह विषयक विचारों को अमली रूप प्रदान किया। वह अन्तर्जातीय विवाह के भी पक्षधर थे।

अपनी निष्पक्ष विचारधारा के कारण वह आचार्य सुखलाल संघवी, पं. बेचरदास दोशी तथा मुनि जिनविजय जी जैसे प्रकाण्ड श्वेताम्बर विद्वानों के भी शीघ्र ही सहज स्नेहभाजन और अभिन्न मित्र बने। जबलपुर में हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, के सातवें अधिवेशन में प्रेमी जी ने **'जैन हिन्दी साहित्य'** शीर्षक से निबन्ध पढ़कर जैनेतर हिन्दी जगत को जैनों के हिन्दी वाङ्मय को योगदान से परिचित कराया था। वह निबन्ध बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ था।

प्रेमी जी गुण-ग्राहक थे। उनमें व्यक्ति और वस्तु की परख करने की अद्भुत क्षमता थी। अपनी धुन के पक्के और कर्मठ व्यक्ति थे। अहमदाबाद से प्रकाशित और पं. सुखलाल संघवी जी द्वारा सम्पादित **'सन्मतितर्क'** के संस्करण को देखकर उनके मन में पं. प्रभाचन्द्र विरचित **'न्यायकुमुदचन्द्र'** का वैसा ही सुसम्पादित संस्करण निकलवाने की लालसा बलवती हुई और वह संघवी जी से उस कार्य को स्वयं कर देने अथवा किसी होनहार, सुलझे विचारों वाले (अर्थात् जिसकी पन्थ-ग्रंथि ढीली हो) दिगम्बर पंडित की सहायता से पूर्ण करा देने का बारबार आग्रह करने लगे। ३ जुलाई, १६३३, को जब संघवी जी मुम्बई से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में कार्यभार ग्रहण करने जाने लगे तो प्रेमी जी ने उनसे तकाजा करते हुए कहा कि काशी में तरुण पं. महेन्द्रकुमार जी हैं आप उनसे नई पद्धति के अनुसार **'न्यायकुमुदचन्द्र'** का सम्पादन अवश्य करवायें। तब संघवी जी ने महेन्द्रकुमार जी से सम्पर्क किया और उनसे व काशी में अपने पूर्व परिचित पं. कैलाशचंद्र जी से मिलकर प्रेमी जी की इच्छानुसार **'न्यायकुमुदचन्द्र'** का सुसंस्कृत सम्पादन कराया जिसे प्रेमी जी ने अपनी 'माणिकचन्द्र दिगम्बर-जैन-ग्रन्थमाला' से प्रकाशित किया।

श्री नाथूराम प्रेमी जी को समर्पित अभिनन्दन ग्रन्थ कदाचित् अपने किस्म का पहला अभिनन्दन ग्रन्थ है जिसके ७५१ पृष्ठों के कलेवर में मात्र ६६ पृष्ठों में २७ मनीषियों द्वारा प्रेमीजी का संस्मरणात्मक अभिनन्दन है और शेष ६८२ पृष्ठों में विविध विषयों पर मनीषी विद्वानों के १०६ आलेख समाहित हैं और प्रेमी जी का स्वयं का एक भी नहीं। इसका सम्पादन पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने किया था। अभिनन्दन समिति के अध्यक्ष डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल और मंत्री श्री यशपाल जैन थे। इस अभिनन्दन आयोजन का स्वागत करने वाले न केवल हिन्दी जगत और जैन जगत के गणमान्य साहित्यसेवी और विद्वान रहे अपितु सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन्, श्री पुरुषोत्तमदास टंडन और काका कालेलकर जैसी विभूतियां भी रहीं। जब प्रेमी जी को इस अभिनंदन-आयोजन की भनक पड़ी तो उन्होंने सर्वप्रथम पं. बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा- "काशी के छात्रों ने तो खैर लड़कपन किया, पर यह आप लोगों ने क्या किया? मैं तो लज्जा के मारे मरा जा रहा हूं। भला मैं इस सम्मान के योग्य हूं?.. .मेरी हाथ जोड़कर प्रार्थना है कि मुझे इस संकट से बचाइये।" तदनन्तर यशपाल जैन को लिखा - "एक जरूरी प्रार्थना यह है कि आप चौबे जी को समझाकर मुझे इस अभिनंदन ग्रंथ की असह्य वेदना से मुक्त करा दें।" **आत्म-प्रचार के इस युग में जब त्यागीजन भी अपना अभिनंदन कराने का मोह नहीं संवरण कर पाते तब उस गृहस्थ व्यवसायी जीव की दूसरों द्वारा स्वयमेव किये जा रहे अभिनंदन पर उठाई गई आपत्ति उनकी निरभिमानता, विनम्रता और शालीनता की परिचयायक हैं** ।

प्रेमी जी के व्यक्तित्व और कृतित्व का सम्पूर्ण लेखा इस लघु आलेख में देना कठिन है। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सद्गृहस्थ, नैष्ठिक श्रावक, स्वावलम्बी, स्वाभिमानी, संतोषी वृत्ति और सरल स्वभाव एवं निश्छल व्यवहारवाले साहित्य साधक नाथूराम प्रेमी जी एक सच्चे और खरे इंसान थे। ३० जनव को उन्हें दिवंगत हुए ४५ वर्ष व्यतीत हो गये। उनकी इस पुण्यतिथि पर उनकी स्मृति को सादर नमन् करते हुए लेखनी को विराम देता हूँ।

- रमा कान्त जैन

- ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ

महावीर वाणी

अहिंसाहिलक्खणो धम्मो, जीवाणं रक्खणो धम्मो

धर्म का लक्षण अहिंसा है। जीवों की रक्षा करना धर्म है।

जैन गुफाएं तथा गुहा मंदिर

- डॉ. ज्योति प्रसाद जैन

भारतीय स्थापत्य कला का एक प्रारंभिक रूप गुहास्थापत्य रहा है। पर्वत पार्श्वों में उत्खनित गुहा मंदिर ईसा पूर्व चौथी-तीसरी शती से लेकर ईस्वी सन् की ८वीं-६वीं शती पर्यन्त के निर्मित देश के अनेक स्थानों में उपलब्ध हैं और उनमें जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मणीय, विशेषकर शैव, तीनों ही परम्पराओं से सम्बंधित गुफाएं हैं।

भगवान महावीर की परम्परा के प्रारंभिक जैन साधु कई शताब्दियों पर्यन्त वनवासी होते थे, बस्तियों में केवल आहार ग्रहण करने के लिए जाते थे, और किसी एक स्थान में अधिक समय तक नहीं ठहरते थे। वे निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ तपोधन श्रमण अपने अस्थायी निवास के लिए भी बहुधा पहाड़ियों में बनी प्राकृतिक गुफाओं का उपयोग करते थे। इस प्रकार की अधुनाज्ञात प्राचीनतम गुफाएं मध्यप्रदेश के रायगढ़ जिले के सिंहनपुर; बिहार राज्य के बारबर एवं राजगिरि; गुजरात के गिरिनगर (गिरिनार), महाराष्ट्र के अजन्ता, एलोरा, बादामी और धाराशिव; उड़ीसा की उदयगिरि-खंडगिरि; मालवा की उदयगिरि (विदिशा के निकट); आन्ध्र-प्रदेश के रामकोंड तथा तमिलनाडु में पुडुकोट्टा के सित्तनवासल नामक स्थानों में विद्यमान हैं। सित्तनवासल की कतिपय गुफाओं में पालिशदार पाषाण शय्याएं पाई गईं हैं जो सम्भवतया सल्लेखनाव्रत धारण करने वाले जैन मुनियों के उपयोग में आती थीं। वहां प्राप्त दूसरी-तीसरी शती ईसा पूर्व के ब्राह्मी अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि वहाँ कोई बड़ा जैन अधिष्ठान था जहाँ उपासक लोग साधना के लिए जाते थे। लगभग ६०० ई. में पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन प्रथम, जो प्रारंभ में जैन था, के शासनकाल में सित्तनवासल की पहाड़ी के पश्चिमी ढाल पर सुन्दर कृत्रिम गुहा-मन्दिर उत्खनित किये गये।

तीसरी-चौथी शती ई. से जैन मुनियों में चैत्यवास की प्रथा का प्रचलन बढ़ने लगा, जिसके परिणामस्वरूप इस प्रकार की कृत्रिम लेणें या गुहामंदिर अधिकाधिक बनने लगे। जैसा कि इस प्रसंग में विन्सेन्ट स्मिथ का कथन है 'प्रयोजन विशेष के लिए निर्मापित स्थापत्य का स्वरूप समय के साथ बदलती हुई व्यावहारिक आवश्यकताओं से प्रभावित होता ही है। तथापि क्योंकि ब्राह्मणों एवं बौद्धों के विपरीत जैन साधु चैत्यवास को भी अच्छा नहीं समझते थे, अजन्ता और एलोरा के युग में भी जैनों ने अपेक्षाकृत बहुत थोड़े गुहा मंदिर बनाये।' वर्गेस के अनुसार, 'जबकि बौद्धों ने ७२०

और ब्राह्मणों ने १६० गुहामंदिर बनाये जैनों के केवल ३५ ही ज्ञात हैं, जो सब दिगम्बर आम्नाय के हैं और पांचवी से बारहवीं शती ई. के मध्य बने हैं।'

वस्तुतः, कुछ जैन गुहामंदिर, यथा- उड़ीसा की खण्डगिर-उदयगिरि, मध्यप्रदेश में विदिशा के निकट उदयगिरि, बिहार में राजगिरि की पहाड़ियों में सोन भण्डार आदि तथा मैसूर राज्य के श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि के जैन गुहा मंदिर पांचवी-छठी शती ई. से पर्याप्त पूर्व निर्मित हो चुके थे। तदनन्तर सित्तनवासल, बादामी, एहोल, एलोरा, पटनी, नासिक, धाराशिव, अंकइ, जूनागढ़ तथा कुलुमुलु के जैन गुहा मंदिर बने। सोलापुर से लगभग ६० कि.मी. दूर स्थित धाराशिव की लयण इन सबमें सर्वाधिक विशाल प्रतीत होती है, जबकि कुलुमुलु का गुहामंदिर, जो अब शैवों के अधिकार में है, इस प्रकार की लयणों में एक श्रेष्ठ रत्न के रूप में वर्णित किया गया है। नासिक की गुफाओं में अनेक कोठरियां एवं कक्ष हैं- यहाँ राष्ट्रकूटों के शासनकाल में सुप्रसिद्ध आगमिक टीकाकार स्वामी वीरसेन और जिनसेन की अध्यक्षता में एक विशाल एवं महत्त्वपूर्ण जैन ज्ञान केन्द्र फलाफूला था। खानदेशस्थ अंकइ का गुहामंदिर अपेक्षाकृत बहुत छोटा है किन्तु पुष्प-पल्लवों पर नृत्यरत अप्सराओं के अतिसुन्दर कलापूर्ण अंकनों के कारण उल्लेखनीय है। एलोरा के जैन गुहा मंदिरों- इन्द्रसभा एवं जगन्नाथ सभा के अप्रतिम कलासौन्दर्य एवं कुशल संयोजना के लिये बर्गेस, ब्राउन आदि अनेक कलामर्मज्ञों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

महाराष्ट्र राज्य के अन्तर्गत उस्मानाबाद जिले के केन्द्रीय नगर उस्मानाबाद से ८-६ मील उत्तर-पूर्व की ओर स्थित एक गहरी घाटी में दो गुफा समूह हैं। घाटी के उत्तरी पार्श्व में स्थित चार गुहामन्दिरों का समूह जैनधर्म से सम्बंधित मान्य किया जाता रहा है और उसके सामने दूसरी ओर तीन गुफाएं वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बंधित अनुमान की गई हैं।

इस घाटी के निकट ही एक ओर धाराशिव नाम का कस्बा है और दूसरी ओर ७-८ मील पर तेर नाम का गांव है। स्वयं उस्मानाबाद का मूल नाम धाराशिव रहा बताया जाता है। इन गुहामन्दिरों को डाबरलेण तथा तोरललेण नामों से भी जाना जाता है। धाराशिव और तेर या तेरापुर की निकटता के कारण इन्हें धाराशिव अथवा तेरापुर के गुहामंदिर भी कहा जाता है।

वर्तमान युग में सर्वप्रथम सम्भवतया यूरोपीय पुरातत्त्ववेत्ता बर्गेस ने पश्चिमी भारत की पुरातत्त्व सर्वेक्षण रिपोर्ट के भा० ३ में इन गुफाओं का वर्णन किया था। उसी ने उपरोक्त चार गुहामंदिरों का जैन होना निर्णीत किया था। तदनन्तर फर्गुसन आदि अन्य विद्वानों ने उनके सम्बन्ध में लिखा।

दिगम्बर जैन परम्परा में हरिषेण के **वृहत्कथाकोश** (१०वीं शती), मुनि कनकामर के अपभ्रंश **करकंडु चरिउ**, शुभचंद्र के संस्कृत **करकंडुचरित** तथा **पुण्यास्रव कथाकोश** आदि में जिन जैन गुहा मन्दिरों का उल्लेख हुआ है उन्हें उक्त प्रदेश के ही नहीं अन्यत्र के जैनीजन भी इन गुफाओं के साथ चीन्हते रहे हैं। १६१३ ई. में बम्बई से सेठ माणिकचंद्र जी ने ब्र. सीतलप्रसाद जी के सहयोग से जो **जैन तीर्थयात्रादर्पण** प्रकाशित कराया था उसमें भी इन जैन गुहामंदिरों का आंखों देखा जैसा वर्णन है और पृ. २७३ पर तेर ग्राम का तथा वहाँ के प्राचीन जिनालय का भी वर्णन है। ऐसा लगता है कि स्व. ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी ने ही सर्वप्रथम इन स्थानों एवं गुफाओं के पुराणपुरुष करकंडु नरेश से सम्बंधित होने का संकेत किया था। तदनन्तर प्रोफेसर हीरालालजी ने कनकामर मुनि के **करकंडु चरिउ** का सम्पादन करते हुए उक्त ग्रन्थ की अपनी अंग्रेजी प्रस्तावना में इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला, अन्यत्र भी उन्होंने तद्विषयक लेख प्रकाशित कराये।

किंतु **जर्नल ऑफ इंडियन हिस्टरी** की जिल्द ४६, भा. ३, क्रम. सं. १३८ के पृ. ४०५-४१२ पर डॉ. एम. के. धवलिकर का एक लेख धाराशिव की इन्हीं गुफाओं के सम्बन्ध में प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने इन गुफाओं के जैनत्व में सन्देह उत्पन्न करने का प्रयास किया और उनका मूलतः बौद्ध होना अनुमान किया। उनकी दलीलें जोरदार नहीं हैं, तथापि एक विवाद तो खड़ा कर ही दिया गया।

ऐसी स्थिति में आवश्यकता इस बात की है कि कोई पुरातत्त्वज्ञ जैन विद्वान स्वयं जाकर उक्त गुहा मंदिरों का सर्वेक्षण करे और उनका सांगोपांग विस्तृत विवरण प्रकट करे। डॉ. धवलिकर ने कनकामर के और **वृहत्कथाकोश** के वर्णनों में परस्पर कतिपय मतभेदों को लेकर ही कनकामर के प्रतिपादों को और उन पर आधारित प्रो. हीराललाजी के निष्कर्षों को संदिग्ध घोषित करने की चेष्टा की। अतएव उक्त आँखों देखे पुरातात्विक विवरण के साथ-साथ करकंडु की कथा के विभिन्न साहित्यिक स्रोतों के तद्विषयक प्रसंगों का तुलनात्मक विवेचन तथा स्थानीय अनुश्रुतियों आदि का भी यथोचित उल्लेख होना आवश्यक है।

अन्य जैन लेखों तथा गुहामंदिरों पर कई विद्वानों ने यत्किंचित् प्रकाश डाला है, किन्तु उनका भी सर्वांग, व्यवस्थित एवं प्राविधिक तथा कलात्मक अध्ययन अभी अपेक्षित है।

[जैन-सन्देश (शोधांक) २८ (१२ मार्च, १६७०) तथा ३१ (२८ दिसम्बर, १६७२) में प्रकाशित डाक्टर साहब के शोधकणों से संयोजित- रमाकान्त जैन]

सम्पादकीय

धार्मिक पत्रकारिता

आज पूरे जैन समाज में २०० से अधिक धार्मिक-सामाजिक पत्र-पत्रिकाएं (साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, द्वि-त्रि. चातुर्मासिक व षट्मासिक) प्रकाशित हो रही हैं। अकेले दिगम्बर जैन समाज में ही इनकी संख्या १०० के लगभग है। यह संख्या इसकी द्योतक है कि जैन समाज में अपने धार्मिक-सामाजिक समाचारों के प्रति कितनी गहरी रुचि रहती है।

अधिकांश पत्र-पत्रिकाएं बृहद् प्रतिष्ठा विधानों, पूजा- विधानों, साधु-साध्वियों के विहार-चातुर्मास समाचारों से, उनकी व उनके दिवंगत गुरुओं की जन्म-दीक्षा-समाधि जयन्तियों के आडम्बरपूर्ण समारोह समाचारों, मंदिरों से मूर्ति चोरी की घटनाओं, कहीं भूगर्भ से प्राप्त हुई मूर्तियों व उनके तथाकथित चमत्कारों के समाचारों से ही प्रायः भरे रहते हैं। विविधता लाने के लिये किसी मुनि/आर्यिका जी का प्रवचन, कोई पुराण कथा/कथांश भी कभी-कभी दे दिया जाता है। कुछ पत्र-पत्रिकाएं कतिपय संस्थाओं से जुड़े हैं। वे अपनी-अपनी संस्थाओं की रीति नीति के प्रचार वाले तथा उनका समर्थन करने वाले धर्म गुरुओं के समाचारों, लेखों को प्रमुखता देते हैं तो कुछ सीधे किसी न किसी धर्म गुरु/गुरुणी से जुड़ी हैं और उन्हीं के गुणगान प्रचार को समर्पित हैं। कुछ पत्रिकाएं मांसाहार विरोध, शाकाहार प्रचार व अहिंसा प्रचार से भी प्रमुखता से जुड़ी हैं। ऐसी बहुत कम पत्रिकाएं हैं जो धर्म-समाज में फैलती जा रही विसंगतियों-कुरीतियों के प्रति समाज को सचेष्ट करने तथा दिशाबोध कराने का प्रयास करती हो।

दि. ८ नवम्बर, २००३ को माननीय उपराष्ट्रपतिजी ने अपने निवास पर पत्रकारिता और जनसंचार ग्रंथमाला का लोकार्पण करते हुए पत्रकारिता के महत्व को दर्शाने के लिये कहा था कि "आज जब लोकतंत्र के चारों ही स्तम्भ ठीक काम नहीं कर रहे हैं और परस्पर संघर्षरत हैं, प्रेस की जिम्मेदारी बढ़ जाती है क्योंकि बाकी तीनों स्तम्भ और समाज के बीच वह मध्यस्थ की भूमिका में रहता है।"

एक विचारक के अनुसार 'पत्रकारिता वास्तव में एक चुनौती है, जिसके आवश्यक गुण हैं-उत्तरदायित्व, अपनी स्वतंत्रता, सभी दबावों से परे रहना, सत्यता प्रकट करना, निष्पक्षता, समान व्यवहार और समान आचरण।'

ये तो हुईं पत्रकारिता की सामान्य अपेक्षाएं जो सर्वप्रकार की पत्रकारिता पर समान रूप से लागू होती हैं। सामाजिक-धार्मिक क्षेत्र की सार्थक पत्रकारिता की, हमारी

दृष्टि में, और भी महत्वपूर्ण भूमिका है और तदनुसार जिम्मेदारियां भी अधिक हैं। दि. २० अप्रैल, २००३ को पत्रकारिता के क्षेत्र में उत्कृष्ट योगदान के लिए अहिंसा इंटरनेशनल द्वारा प्रेमचंद जैन पत्रकारिता पुरस्कार से नई दिल्ली के चिन्माया सभागार में आयोजित समारोह में सम्मानित किए जाने के सुअवसर पर हमने अपने संक्षिप्त भाषण में धार्मिक-सामाजिक क्षेत्र से संबंधित पत्रकारिता की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि **हमारी दृष्टि में पत्रकार की भूमिका केवल एक समाचार वाहक तक ही सीमित नहीं है वरन् उसकी यह भी एक चुनौतीपूर्ण जिम्मेदारी है कि वह धार्मिक-सामाजिक क्षेत्र को प्रभावित करने वाली घटनाओं का पूर्ण निष्पक्षता के साथ विश्लेषण कर समाज का मार्गदर्शन करे। पत्रकार को धर्म के क्षेत्र में नित नवीन उत्पन्न हो रही विसंगतियों के प्रति भी समाज के प्रबुद्ध वर्ग का ध्यान आकर्षित कर उन्हें सचेष्ट करना चाहिए ताकि उन विसंगतियों की रोकथाम हो सके और इस प्रकार उसे धर्म-समाज के एक सजग प्रहरी की भूमिका भी अदा करनी चाहिए।** हम **शोधादर्श** व **समन्वय वाणी** के माध्यम से इन्हीं सिद्धान्तों का यथाशक्य पालन करने का प्रयास करते आ रहे हैं। हम कैसी पत्रकारिता कर रहे हैं, इसे स्पष्ट करने के लिए नीचे हम कुछ विषयों का उल्लेख कर रहे हैं जिन पर हमने अपनी लेखनी चलाई है।

(क) सामाजिक क्षेत्र- दहेज प्रथा का अभिशाप तथा विवाहादिक के अधिकाधिक खर्चीले होते जा रहे आयोजन हमारी समाज के बहुसंख्यक कम सम्पन्न परिवारों पर असह्य बोझ बनते जा रहे हैं। दहेज हत्याएं भी हमारे अहिंसक समाज में अब अनहोनी नहीं रही है और अनेक कन्याओं को बिन ब्याहे ही जीवन यापन करने के लिए भी विवश होना पड़ रहा है। परिषद, महासमिति व भारतीय जैन मिलन आदि ने दिन में विवाह समारोह करने का नारा देकर कुछ कार्य किया है पर उसका अभी कोई व्यापक असर नहीं हो पाया है। हमने अपने एक लेख में सुझाव दिया था कि यदि हमारे १०-२० मुनि/आर्यिकाएं भी अपने प्रवचनों में दहेज प्रथा निषेध तथा विवाहादिक सामाजिक आयोजनों को सादगी के साथ सम्पन्न करने पर जोर दें तथा श्रावकों से प्रतिज्ञा करावें तो इस समस्या का बहुत कुछ निराकरण हो सकता है। इस विषय पर आगे भी हमारा और विस्तार से लिखने का विचार है।

(ख) तीर्थक्षेत्र- हमारे वास्तविक तीर्थक्षेत्र तो सिद्धक्षेत्र जहां से तीर्थंकर एवं अन्य केवलियों ने मोक्ष गमन किया तथा तीर्थंकरों के कल्याणक क्षेत्र ही हैं, किन्तु कैसी विडम्बना है कि हमारे अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के जन्म तथा मोक्ष

कल्याणक के वास्तविक क्षेत्र अभी तक भव्य रूप में विकसित नहीं हो पाए हैं। हमने इनके तथा अन्य तीर्थ क्षेत्रों के समुचित विकास के ठोस उपाय अपने लेखों में सुझाए हैं।

(ग) **धार्मिक क्षेत्र-** हमारे वर्तमान के अनेक पिच्छीधारी महाव्रती गुरु/गुरुणी यश ख्याति प्रतिष्ठा की दौड़ में सबसे ऊपर निकलने की होड़ में अपने को नई-नई और कभी-कभी विचित्र भी लगने वाली उपाधियों से अलंकृत कर रहे हैं, या अपने श्रद्धालु भक्तों से करवा रहे हैं। एक आचार्य 'वात्सल्य रत्नाकर' थे तो दूसरे 'वात्सल्य दिवाकर' हो गए। एक 'महान् तपस्वी' कहलाते हैं तो दूसरे 'तपस्वी सम्राट' बन गए। 'तपस्वी सम्राट' की उपाधि भी छोटी लगने लगी तो 'महातपो मार्तण्ड' हो गए। पहिले केवल दक्षिण से प्रथम बार उत्तर आए आचार्य शान्तिसागर जी का विरुद 'चारित्र-चक्रवर्ती' था, पर अब और भी चारित्र-चक्रवर्ती पैदा हो गए (यद्यपि हमारी दृष्टि में तो केवल वही महामुनि चारित्र चक्रवर्ती कहलाने के हकदार हैं जिनकी तपस्या केवल ज्ञान प्राप्ति से पूर्ण और सफल हुई हो। सन् १९३७ में गजपंथा क्षेत्र पर पंचकल्याणक के सुअवसर पर जब पू. आचार्य शान्ति सागर जी को 'चारित्र चक्रवर्ती' पद से विभूषित किया जा रहा था तो उन्होंने भी यही कहा था कि चारित्र चक्रवर्ती तो भगवान ही हो सकते हैं। हम तो अंतिम नंबर के मुनि हैं।) एक आचार्य श्री को श्रद्धावनत श्रावकों ने 'कलिकाल सर्वज्ञ' की उपाधि से अलंकृत किया (प्रमुदित मुद्रा में उपाधि को स्वीकार करते हुए आचार्य श्री के चित्र पत्र-पत्रिकाओं में छाए रहे थे) तो दूसरे के शिष्यों व भक्तों ने अपने गुरुदेव को 'कलिकाल तीर्थंकर' ही घोषित कर दिया। (हमने इन दोनों उपाधियों को भगवान पार्श्वनाथ से जम्बू स्वामी पर्यन्त कलि काल में हुए केवली भगवन्तों का अवर्णवाद मानते हुए **शोधादर्श** में यथा समय अग्रलेख लिखे थे)। विचित्रता तथा अनूठेपन की हद हो गई जब आचार्य पुष्पदंतसागर म. के एक परम श्रद्धालु श्रावक ने उन्हीं के केन्द्र से प्रकाशित **पुष्पवार्ता** पत्रिका (नवम्बर २००१) में आचार्य श्री के लिए लिखा कि "हमारे गुरु वर्य जैन समाज के एलसेशियन गाड है-- इस महान् संत को देखकर २५वें तीर्थंकर की कल्पना को साकार किया जा सकता है।" हमें आचार्य श्री के लिए प्रयुक्त की गई इस विचित्र उपाधि का अर्थ ही समझ में नहीं आया और २५वें तीर्थंकर की तो जैन धर्म में कोई कल्पना या गुंजाइश ही नहीं है। आचार्य श्री की ओर से इसका कोई प्रतिवाद प्रकाशित किया गया हो ऐसा भी हमारे पढ़ने देखने में नहीं आया, अतः हमने **शोधादर्श**-४८ के सम्पादकीय लेख में इस विचित्र उपमा/उपाधि पर भी टिप्पणी की।

तीर्थंकर महाप्रभुओं के प्रमुख शिष्य गणधर कहलाते थे। वे भगवान की अर्थ रूप दिव्य ध्वनि को शब्द रूप में निबद्ध करते थे। सभी गणधर श्रुत केवली थे तथा उन्होंने उसी भव से मोक्ष गमन कर अपनी तप-साधना को सफल किया था। भगवान महावीर स्वामी के अन्तिम गणधर सुधर्मा स्वामी के बाद विगत २५०० वर्षों में किसी महान् से महान् आचार्य को उनके शिष्यों ने गणधर तुल्य भी नहीं कहा। किन्तु अब २०वीं शती के अन्तिम चरण से गणधराचार्य कुन्थुसागर म. से प्रारम्भ होकर गणधरों की एक नई खेप अवतरित होने लगी है और हमारी जानकारी में कम से कम तीन आचार्य तो अपने को इस उपाधि से अलंकृत करा ही चुके हैं। पता नहीं इन महामुनियों ने किस तीर्थंकर की प्रतीक्षा में पहिले से ही गणधर पदवी धारण कर ली है। गणधराचार्य कुंथुसागरजी की कीर्ति गाथा (?) के विशद वर्णन में तो **धर्म मंगल** की जागरूक सम्पादिका सौ. बहिन लीलावती जी अपनी पत्रिका में अनेक पन्ने रंग चुकी हैं। दूसरे गणधराचार्य श्री नेमिसागरजी ने आत्महत्या का प्रयास किया था पर अस्पताल में कुशल चिकित्सकों द्वारा बचा लिए जाने पर गृहस्थाश्रम में पुनः प्रवेश कर सुखपूर्वक अपनी नई गृहस्थी चला रहे हैं। तीसरे शशांकसागरजी को तो उनके गुरुदेव (आ० सिद्धान्तसागर जी) ने अभी डेढ़ दो वर्ष पूर्व ही इस पदवी से अलंकृत किया है। हम इस अभिनव गणधरवाद पर भी टिप्पणी करते रहे हैं।)

अपने को दूसरों से विशिष्ट, श्रेष्ठ दीखने की चाहना हमारी आर्यिका माताओं में भी कम नहीं है। यदि और सामान्य आर्यिकाएं है तो वे गणिनी हैं, यदि एक प्रथम गणिनी कहलाती है तो दूसरी सर्वोच्च गणिनी हो गई। विगत ढाई हजार वर्ष के इतिहास में अभी ही गणिनी पद सुनने में आ रहा है। कदाचित् इससे आशय आचार्य-तुल्य का बोध कराना है। पर दिगम्बर जैन आम्नाय में तो आर्यिका (गणिनी सहित) का पद सामान्य मुनि (साधु) से भी नीचा माना गया है और उनकी गिनती 'णमोलोए सव्वे साहुणं' में नहीं होती। हमने इस पर भी टिप्पणी की है।

अंकलीकर परम्परा के तृतीय पट्टाचार्य श्री सन्मतिसागर जी ने अपने एक प्रवचन (३० दिसम्बर २००२) में सभी प्राणियों को विवाह से दूर रहने का उपदेश दिया क्योंकि इससे आत्महित और सुख शान्ति नहीं मिलती। हमने **शोधादर्श**-४९ में इस प्रकटतः समाज व्यवस्था विरोधी विचित्र धर्मोपदेश की आलोचना की। इसी प्रकार दिगम्बर जैन आम्नाय की श्रद्धा के प्रतीक बने प्राचीन काल से चले आ रहे मंगल श्लोक के तीसरे पद "मंगलम् कुन्दुन्दाद्यो' को अपने गुरुदेव के नाम पर "मंगलम् पुष्पदंताद्यो" के रूप में संशोधित करके आचार्य पुष्पदंतसागर म. की युवा मुनि वाहिनी

द्वारा प्रचारित करने पर भी हमने **शोधादर्श**-४८ में अपना संपादकीय लेख लिखा। हम श्रमण संस्था में पनप रही शिथिलाचार की नित नवीन प्रवृत्तियों तथा निष्परिग्रही मुनियों की परिग्रहलिप्तता की भी समय-समय पर आलोचना करते रहे हैं। ढाई सहस्र वर्ष की दिगम्बर जैन शुद्ध आम्नाय की परम्परा के लिये अनजान, आज के युग के महामुनियों/आर्यिका माताओं की प्रेरणा से निर्मित कामदेव मंदिर, नवग्रह मंदिर, तीस चौबीसी मंदिर, समाधि मंदिर आदि पर भी हमने टिप्पणी की थी।

यह है हमारी पत्रकारिता का कुछ परिचय जिसके द्वारा हम एक जागरूक प्रहरी की भांति समाज के प्रबुद्ध वर्ग को सचेष्ट करने का प्रयास करते रहे हैं ताकि इन जैसी विसंगतियों की कुछ रोकथाम हो सके। किन्तु अपने लेखन में हम भाषा की शालीनता तथा धर्म गुरुओं के प्रति विनयवंतता का पूरा ध्यान रखते हैं। हमें संतोष है कि समाज के प्रबुद्ध वर्ग ने हमारी इस पत्रकारिता का गर्मजोशी से स्वागत किया है जो हमें प्राप्त अनेक सुधी पाठकों के पत्रों से परिलक्षित होता है तथा जिनमें से कुछ हम **शोधादर्श** में 'पाठकों के पत्र' स्तंभ के अंतर्गत प्रकाशित भी करते आए हैं। एक पूज्य मुनिराज से प्राप्त पत्र (**शोधादर्श**-५१ में प्रकाशित) का निम्नलिखित अंश अवलोकनीय है-

"**शोधादर्श**-४८ के संपादकीय (मंगलम पुष्पदंताद्यो) में आपने व्यंगात्मक भाषा में ब्याज स्तुति युक्त पूरा निबन्ध जो लिखा है उसके भाव किसी भी प्रकार से गलत नहीं हैं। बड़े ही संयत ढंग से आपने व्यक्ति को जाग्रत होने का संदेश दिया है। इसकी रचना शैली अपने आपमें एक विशिष्ट शैली है---।"

(हमने जानबूझकर इन मुनिराज का नाम इस आशंका से प्रकाशित नहीं किया है कि कहीं वे ही किसी अंध श्रद्धालु की कोपाग्नि का शिकार न बन जाएं)। तथापि, हमें आलोचित साधुओं के समर्थकों की गालियों तथा धमकी भरे कुछ पत्र भी प्राप्त हुए हैं।

हमारी यह पत्रकारिता हमारी एक धार्मिक पत्रिका के सम्पादक जी के रोष का भी भाजन बन गई। **पार्श्व ज्योति** के सम्पादक जी ने अपनी पत्रिका के मई २००३ के अंक में "घूमता आईना" स्तम्भ के अंतर्गत **शोधादर्श** सहित तीन पत्रिकाओं पर निशाना साधते हुए लिखा -"हमारी इन पत्रिकाओं के सम्पादक-अग्रजों को क्या हो गया है जो निरन्तर कुछ न कुछ अनर्गल छाप कर न जाने समाज को किस पाप की सजा दे रहे हैं या देना चाहते हैं-- शोधादर्श वालों को भड़काऊ लेखन और टिप्पणी करने/कराने की आदत सी पड़ गई है। इसी के अंक-४९ में आचार्य सन्मतिसागर,

आचार्य पुष्पदंतसागर, मुनि श्री सौरभसागर पर अनर्गल विचार छापकर मुनि धर्म को कलंकित करने का प्रयास किया गया है- -।''

हमने **पार्श्व ज्योति** के इस 'घूमते आइने' की **शोधादर्श**-५० के समाचार विमर्श स्तम्भ के अंतर्गत (पृष्ठ ६७-६८) समीक्षा करते हुए इन सम्पादकजी के द्वारा लगाए गए अनर्गल और नितान्त मिथ्या आरोपों के विषय में अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए लिखा था कि उन्होंने हमारे तथाकथित भड़काऊ लेखन या टिप्पणी या अनर्गल विचारों के किसी भी आपत्तिजनक अंश को उद्धृत नहीं किया जिनमें उनकी दृष्टि में मुनि धर्म को कलंकित करने का प्रयास प्रतीत होता हो, तथा यदि वे ऐसे अंश उद्धृत करते तो हम उनके विषय में स्थिति स्पष्ट करके उनके भ्रम का निवारण कर देते या अपनी भूल स्वीकार कर लेते। हमने यह भी लिखा था कि हम सभी पूज्य आचार्यों, मुनिराजों के प्रति विनय भाव रखते हैं साथ ही यदि किसी की चर्या या उपदेश में आगम या शुद्ध आम्नाय विरुद्ध कोई बात समझते हैं तो शिष्टभाषा में उसके प्रति समाज के प्रबुद्ध वर्ग का ध्यान उस विसंगति की ओर आकर्षित करना भी अपना कर्तव्य मानते हैं। हमें भीत मीत चाटुकारिता की पत्रकारिता रुचिकर नहीं है जिसे कदाचित् ये सम्पादक जी श्रेष्ठ पत्रकारिता का मापदंड मानते हों। यह ध्यान देने योग्य है कि हमने यह कहीं नहीं लिखा कि वे स्वयं इस प्रकार की पत्रकारिता करते हैं। हमने केवल अपनी ही बात कही थी।

उन सम्पादक जी के घूमते आइना की उपरोक्त समीक्षा ने उनकी कोपाग्नि को और भड़का दिया और अब वे अपशब्दों की बौछार करने पर भी उतर आए। **पार्श्व ज्योति** दिसम्बर २००३ के अंक में प्रकाशित अपने लेख 'पत्रकारिता न अटके, न भटके' में वे लिखते हैं-

''हमारे एक वयोवृद्ध पत्रकार श्री अजित प्रसाद जैन ने स्वयं की पीठ थपथपाते हुए--हमारे ऊपर आक्षेप लगाने की गुस्ताखी की है जबकि हमने जो प्रश्न उठाए थे उनका समाधान करने या अपनी सोच में बदलाव लाने की अपेक्षा वह समझाना उचित समझा कि चूंकि दूसरे ने ऐसा कहा था तो हमने भी कह दिया (संदर्भ-एलसेशियान गाड)। यह तो ऐसे ही हुआ कि उन्होंने हत्या की तो मैं भी कर दूं।- - आज **पार्श्व ज्योति** के सम्पादकों के प्रयासों से ही मुनि श्री योगीन्द्रसागर जी भट्टारक नहीं बन सके जिसका उल्लेख स्वयं शोधादर्श ने भी किया था।''

हमें अब चार-पांच वर्ष बाद यह तो स्मरण नहीं कि बालाचार्य श्री योगीन्द्रसागर जी के नवम्बर १९९९ में प्रस्तावित भट्टारक पट्टाभिषेक के विरोध में कोई लेख **पार्श्व**

ज्योति में प्रकाशित हुए थे या नहीं पर विद्वत परिषद् के (एक गुट के) अध्यक्ष बंधुवर डॉ. रमेशचंद जी का एक लेख 'साधु संस्था खतरनाक मोड़ पर'' **दिशाबोध** (अगस्त १६६६) व **धर्म मंगल** आदि कई पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ था। डाक्टर साहब ने अपने लेख की प्रति हमको भी भेजी थी तथा हमने उसका विशद समीक्षात्मक उपयोग **शोधादर्श** (नवम्बर १६६६) में (पृष्ठ ३६-४८ पर) इसी विषय पर प्रकाशित अपने सम्पादकीय लेख 'बालाचार्य जी की विचित्र आध्यात्मिक यात्रा से उभरे कुछ प्रश्न', में किया भी था। अपने लेख में डाक्टर साहब ने बालाचार्य जी के इस उपक्रम पर विद्वत् परिषद का विरोध दर्ज कराते हुए परिषद के सभी सदस्यों का आह्वाहन किया था कि वे इस नूतन भट्टारक पट्टाभिषेक समारोह का पुरजोर बहिष्कार करे और इसे सम्पन्न न होने दें। **दिशाबोध** के सम्पादक जी ने भी अपना विरोध दर्ज करते हुए अपने सम्पादकीय लेख में लिखा था कि ''किसी भी स्थिति में हमें ऐसी किसी हरकत का मौन अनुमोदन भी नहीं होने देना है जिससे हमारा दिगम्बरत्व ही समाप्त हो जाए--'' सुप्रसिद्ध साहित्यकार-पत्रकार श्री नीरज जी ने भी अपने लेख 'कब चेतेगी दिगम्बर जैन समाज' में बालाचार्य जी के इस भट्टारकीय उपक्रम की भर्त्सना व विरोध किया था। और भी कई विद्वानों के विरोध लेख पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे।

हमें यह तो नहीं मालूम कि डॉ. रमेशचंद्र जी की विद्वत् परिषद का विरोध इन लेखों तक ही सीमित रहा या कुछ विद्वानों ने बालाचार्य जी से भेंटकर उन्हें विद्वानों के विरोध और बहिष्कार के निर्णय से अवगत भी कराया। क्योंकि ऐसी किसी भेंट का समाचार पढ़ने में कदाचित् नहीं आया।

अब यदि **पार्श्व-ज्योति** के सम्पादक जी इसका श्रेय लेते हैं कि उन्हीं के प्रयासों से मुनि योगीन्द्रसागर जी भट्टारक नहीं बन सके तो उन्हें यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि बालाचार्य जी के गुरुदेव आचार्य सन्मतिसागर जी ने श्रुतपंचमी सन् २००२ को जब अपने दूसरे परम शिष्य मुनि जयसागर जी को विधि विधानपूर्वक भट्टारक पदवी से अलंकृत करते हुए कहा कि 'भट्टारक-मुनि जयसागर जी पूर्व में नग्न भट्टारकों की परम्परा के अनुसार निर्ग्रन्थ नग्न मुनि अवस्था में ही दिगम्बर जैन धर्म का संरक्षण करेंगे' तथा यह भी घोषित किया कि 'भट्टारक मुनि का दर्जा उपाध्याय से ऊपर तथा आचार्य से नीचा होता है' तो **पार्श्व ज्याति** के संपादकों ने इसका विरोध करना तो दूर इस पर पूरी तरह मौन ही क्यों साध लिया ?

पार्श्व ज्योति के सम्पादक जी ने हमें उन पर एक ऐसा आक्षेप लगाने की गुस्ताख़ी करने का आरोपी लिखा है जो, जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं, हमने उन पर कभी लगाया ही नहीं। हमने केवल अपनी बात लिखी है कि हमें भीत-मीत-चाटुकारिता की पत्रकारिता रुचिकर नहीं है। इसमें अपनी पीठ थपथपाने की क्या बात है, यह हमारी समझ में नहीं आई। यदि उन्हें हमारे किसी लेखन में इस प्रकार की पत्रकारिता की कोई गंध मिली हो तो वे बतावें। हम अपनी भूल स्वीकार कर लेंगे। वे कैसी पत्रकारिता करते हैं, वे जाने हमें उससे कोई लेना देना नहीं।

हमारे एक सुधी पाठक श्री हुकमचंद जैन भी उनके घूमते आइने के हमारे विश्लेषण पर पत्र लिखने के लिए इन संपादक जी की कोप दृष्टि के पात्र बन गए हैं। वे लिखते हैं कि हम हुकमचंद जैन जैसे नालायकों के अनर्गल प्रलाप छापकर पार्श्व ज्योति को बदनाम करने की कुचेष्टा क्यों कर रहे हैं। श्री हुकमचंद जी का अपराध इतना ही है कि उन्होंने **शोधादर्श-५१** में प्रकाशित अपने पत्र में यह लिख दिया था कि पार्श्व ज्योति के संपादक डरपोक लगते हैं या फिर शिथिलाचार समर्थक प्रतीत होते हैं। हम इन संपादक जी को बताना चाहते हैं कि ७१ वर्षीय श्री हुकमचंद जी मेरठ की दिगम्बर जैन समाज के एक प्रमुख सुशिक्षित धर्म निष्ठ मुनिभक्त, तीर्थ भक्त सम्पन्न परिवार के मुखिया सुश्रावक हैं जो बरसों मेरठ की दिगम्बर जैन बिरादरी के महामंत्री रह चुके हैं। वे तबसे सामाजिक कार्यों में सक्रिय भाग ले रहे हैं जब ये सम्पादक जी किसी छोटी कक्षा में ही पढ़ते होंगे।

पार्श्व-ज्योति के संपादक जी पी.एच.डी. उपाधिधारी हैं। अपने विषय के पंडित हैं, महापंडित भी होंगे, किन्तु उन्हें कदाचित् उर्दू भाषा के सामान्य शब्द गुस्ताख़ी व नालायक के अर्थों का सही ज्ञान नहीं है भले ही ये शब्द जन भाषा में घुल मिल गए हों क्योंकि यदि उन्हें ज्ञान होता तो वे ऐसे गर्हित एवं अपमानजनक अपशब्दों का प्रयोग अपने से कहीं अधिक वय-वरिष्ठ समाज के संभ्रान्त व्यक्तियों के लिए कभी नहीं करते। वैसे यह भी हो सकता है कि सर्वश्रेष्ठ दीखने की चाहना का कीटाणु उन्हें भी संक्रमणित कर गया हो और वे हर किसी को धमकाना, गलियाना अपनी सर्वश्रेष्ठता का अधिकार समझते हों।

अपने को मुनि समर्थकों का प्रवक्ता सिद्ध करने का प्रयास करने वाले ये संपादक जी अपने चहेते या कृपालु आचार्यों/मुनियों के अतिरिक्त अन्यों के प्रति कितने विनयवंत हैं इसके लिए उनका निम्नलिखित वाक्य अवलोकनीय है- "आज हो

यह रहा है कि जो एकातन्वादी है वे दिगम्बर साधुओं को हर दृष्टि से नुकसान पहुंचाने के प्रयास में लगे रहते हैं कभी घोषित शिथिलाचारी साधुओं की संगति में बैठकर उनके यशोगान में लग जाते हैं--।" हम नहीं जानते कि इन सम्पादक जी का संकेत किन साधुओं की ओर है और उन्हें किसने, कब और कहां शिथिलाचारी घोषित किया तथा वे किस अपेक्षा से उन पर कृपालु साधुओं से अधिक शिथिलाचारी हैं। या ये सम्पादक जी ही उन्हें इसलिए शिथिलाचारी घोषित कर रहे हैं क्योंकि वे उनकी प्रतिस्पर्धी विद्वत् परिषद के विद्वानों के श्रद्धास्पद व आशीर्वाददाता हैं। **पार्श्व ज्योति** के सम्पादक जी को इस विषय में स्थिति स्पष्ट करनी चाहिए।

इन विद्वान सम्पादक जी की कोपाग्नि का शिकार एक हमारे दूसरे सुधी पाठक दिल्ली व राजस्थान उच्च न्यायालयों के भूतपूर्व न्यायाधीश ८१ वर्षीय जस्टिस एम. एल. जैन भी हुए, जो एक शास्त्र मर्मज्ञ गंभीर चिन्तक हैं। उन पर रोष का कारण **शोधादर्श**-४६ में प्रकाशित उनका पत्र है जो उन्होंने हमें हमारे लेख "मंगलम् पुष्पदंताद्यो" पर प्रतिक्रिया स्वरूप लिखा था। सम्पादक जी के अनुसार जस्टिस जैन द्वारा उक्त पत्र में आ. पुष्पदंतसागर व मुनि सौरभसागर जी पर की गई व्यंग्यात्मक टिप्पणियों से मुनि समर्थकों को महान कष्ट पहुंचा है। हम पर उनके पत्र को प्रकाशित करने तथा आ. सन्मतिसागर के प्रथम दृष्ट्या समाज व्यवस्था विरोधी विवाह निषेध उपदेश पर टिप्पणी करने के लिए भी उनका रोष है।

शोधादर्श-५१ में प्रकाशित अपने पत्र में **पार्श्व ज्योति** के सम्पादक के द्वारा की गई आपत्ति पर जस्टिस जैन ने लिखा था- 'आपने तो जवाब दे ही दिया है मैं भी इस विषय में कुछ और लिखने की सोच रहा था कि पावन पर्यूषण पर्व आ गया और अब मैं किसी विवाद में नहीं पड़ना चाहता, अतः पार्श्व ज्योति के सम्पादक व अन्य महानुभाव जिनको मेरी टिप्पणी से आघात पहुंचा हो उनसे मैं विनम्रतापूर्वक क्षमायाचना करता हूं।'

पार्श्व ज्योति के सम्पादक जी ने जस्टिस जैन की इस क्षमायाचना पर अपने लेख 'पत्रकारिता न अटके, न भटके' में संतोष व्यक्त किया है, कदाचित् हमसे भी वे इसी प्रकार क्षमायाचना की अपेक्षा करते है। हम भी अब आयु के इस ८७वें वर्ष में स्वास्थ्य की निरन्तर बढ़ती शिथिलता के कारण **पार्श्व ज्योति** के विद्वान सम्पादक जी से किसी विवाद में नहीं उलझना चाहते तथा उनकी तुष्टि के लिए उनसे विनम्र क्षमा याचना करते हुए इस प्रकरण को विराम देते हैं।

- अजित प्रसाद जैन

क्षणिकाएं

कर में मठ है जिनके, कर्मठ कहलाते हैं।
कर-कमल उनके सदा भरे नज़र आते हैं।।

❖ ❖ ❖

सत्य-महाव्रत-धारक द्वारा कुछ ऐसे कार्य किये जाते हैं
जिन्हें देख हिटलर के गोयबिल्स पानी भरते नज़र आते हैं
उनसे तो यहाँ हम जैसे अव्रती ही हैं भले,
जो अकारण जन-भावना ठगने में सकुचाते हैं।।

❖ ❖ ❖

झोली भरी हुई है उनकी प्रशस्ति-गान से
सौरभ है प्रस्फुटित तरुण-पुष्प की हर पाँख से
आत्मश्लाघा की सुधा से परिपूर्ण है मंगल कलश,
दे रहा सीख हमें वह हर प्रकार से।।

- रमा कान्त जैन
ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ

चिन्तन एक अनुभूति

कल्पनायें बनकर
मिट-मिट जा रहीं हैं
पानी पर
खींची गई लकीर सी।

विश्वास लगता
कि मंडराता हुआ चील
जाने किस लाश पर
बैठ जाए।

सान्त्वना कि जैसे
बंद चौखट पर
आँधी के थपेड़े
लग रहे हों।

प्यार कि जैसे
सूखे गुलाबों के हार
फिर गले
पड़ गए हों।

- सुरेश जैन 'सरल'
२६३, गढ़ाफाटक, जबलपुर (म.प्र.)

एसो पंच णमोयारो- सूत्र से मंत्र

- जस्टिस एम. एल. जैन

परम्परा है कि शास्त्र का व्याख्यान करने से पहले मंगल, निमित्त, हेतु, परिणाम, नाम और कर्त्ता-इन छह अधिकारों का व्याख्यान करना चाहिए। सूत्र के अध्ययन से कर्मों की निर्जरा होती है किन्तु प्रकृत मंगल के द्वारा उस सूत्र के अध्ययन में विघ्नों को उत्पन्न करने वाले विशेष कर्मों का विनाश होता है।

मंगल का अर्थ होता है, वह जो सुख लाए या दे अथवा जो मल अर्थात् पापादि का नाश करे। कार्य प्रारम्भ करने से पहले जो मंगल वाचन किया जाता है उसे मंगल सूत्र या मंगलाचरण कहा जाता है।

वीरसेन के अनुसार आचार्य पुष्पदंत (दूसरी शती ई.) ने **षट्खण्डागम** का प्रारम्भ करने से पहले जो मंगल सूत्र कहा है, वह है-

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।

वीरसेन ने इस मंगल सूत्र को 'देवदा णमोक्कार सुत्त', अर्थात् 'देवता नमस्कार सूत्र', नाम दिया है।

अस्तु दूसरी शती ई.पू. के, अर्थात् पुष्पदंत से प्रायः तीन सौ साल पहले के खारवेल के उदयगिरि की हाथीगुम्फा पर उत्कीर्ण शिलालेख में इस मंगल सूत्र का प्राचीन रूप इस प्रकार मिला है-

नमो अरहंतानं
नमो सवसिधानं

इस मंगल में वर्ण 'ण' नहीं है तथा यह केवल दो पदों का ही है।

आगे चलकर **भगवती सूत्र** (२री-३री ई.) के अनुसार इसके पाठ इस प्रकार मिले हैं-

(१) णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं, णमो बंभीए लिवीए

(२) णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो सव्वसाहूणं णमो बंभीए लिवीए, णमो सुअस्स

पहले पाठ में 'सव्व साहूणं' पद नहीं है, और दूसरे में 'णमो सव्व साहूणं' व 'णमो सुअस्स' दो पद अधिक हैं। **भगवती** के कुछ संस्करणों में ''णमो बंभीए लिवीए'' को सूत्र नं. २ और ''णमो सुअस्स'' को सूत्र नं. ३ दिखाया जाने लगा है। **भगवती** की अभयदेव द्वारा रचित टीका में 'णमो सव्व साहूणं' तथा 'णमो लोए सव्व साहूणं', दोनों ही पाठ होना बताया है।

वीरसेन (८वीं शती ई.) का मंतव्य है कि 'लोए सव्व' शब्द प्रत्येक पद के साथ जोड़े हुए समझे जाने चाहिए।

महानिशीथ सूत्र के अध्याय ५ में इस मंगल सूत्र को 'महाश्रुत स्कंध' बतलाया गया है और लिखा है कि वज्रस्वामी ने उसे मूलसूत्र आवश्यक के मध्य में लिखा जो सूत्रत्व की अपेक्षा से गणधरों द्वारा और अर्थ की अपेक्षा से वीर जिनेन्द्र द्वारा प्रज्ञापित है। यही मत वीरसेन का है जब वे यह कहते हैं कि भावश्रुत व अर्थ पदों के कर्त्ता तीर्थंकर हैं तथा द्रव्यश्रुत के कर्त्ता गौतम हैं।

उपरोक्त पाठ भेदों से यह तो ज़ाहिर है कि यह नमस्कार रूप मंगल सूत्र न तीर्थंकरों द्वारा रचित है और न गणधरों द्वारा, और ना ही यह अनादि है। केवल दो पदों से चलकर कई सौ वर्षों की यात्रा करके आज यह पांच पदों के वर्तमान रूप में विकसित व प्रतिष्ठित हो गया है।

इस मंगल सूत्र के महत्त्व के बारे में कहा जाता है कि निम्नलिखित गाथा (चूलिका) :

एसो पंच णमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलम्

सर्वप्रथम हरिभद्र (आठवीं शती ई.) द्वारा संकलित **महानिशीथ** में मिलती है। यह बात कि यह नमस्कार मंगल सूत्र सब मगलों में प्रथम मंगल है, **षट्खण्डागम** में तो नहीं कही गई है। **षट्खण्डागम** के वेदना खण्ड का प्रथम मंगल सूत्र है- 'णमो जिणाणं' जिसका विवेचन करते हुए **धवला** में वीरसेन ने बताया है कि जिन से मतलब है सकल जिन अर्थात् अरहन्त और सिद्ध तथा देशजिन अर्थात् आचार्य, उपाध्याय और साधु। 'णमो जिणाणं' को ही पंच नमस्कारयुक्त मानकर इसके (न कि प्रथम खण्ड के प्रथम सूत्र णमो अरहंताणं आदि के) महत्त्व प्रदर्शन में वीरसेन ने जो अवतरण दिया है वह यों है-

एसो पंच णमोयारो सव्वपावप्पणासओ
मंगलेसु अ सव्वेसु पढमं होदि मंगलम्

यह **मूलाचार** के सातवें अधिकार की १३वीं गाथा है और इसका संकेत 'णमो अरहंताणं' आदि मंगल सूत्र के प्रति नहीं है परन्तु उस पहली गाथा के प्रति है जिसमें पंच नमस्कार इस प्रकार किया गया है-

काउण णमोक्कारं तहेव सिद्धाणं

आइरिए उवज्झाए लोगम्मि सव्व साहूणं

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि वर्तमान में प्रचलित णमोकार को प्रथम मंगल का दर्जा ७वीं-८वीं शती ई. में मिला होगा।

जब माहात्म्य सूचक उपरोक्त चूलिका को मूल मंगल के साथ मिला लिया गया तो पांच पदों वाला नमस्कार मंगल 'नवकार-मंगल' कहलाने लगा और पंच नमस्कार या नवपद नमस्कार दोनों भिन्न श्रुतस्कंध समझे जाने लगे। महत्त्वपूर्ण मंगल और भी हैं, यथा-

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणि

मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्

एवं चत्तारि मंगलम् अरिहंता मंगलम्

सिद्धा मंगलम् साहू मंगलम्

केवलीपण्णत्तो धम्मो मंगलम्

आदि, परन्तु सर्वश्रेष्ठ मंगल उपरोक्त पंच परमेष्ठी का नमस्कार मंगल सूत्र ही माना जाता है।

यही पंच नमस्कार मंगल-सूत्र मंगल-मंत्र तब कहा जाने लगा जब मंत्र विद्या का प्रभाव जैन धर्म पर भी गहराने लगा। मंत्र शब्द की व्युत्पत्ति मन् धातु से की जाती है और उसका अर्थ लगाया जाता है - जिसके द्वारा आत्मा को जाना जाए, विचारा जाए अथवा परम पद में स्थित आत्माओं का या यक्षादि का सत्कार किया जाए।

सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्रजी का मत है कि जिसका पाठ करने मात्र से कार्य सिद्ध हो, उसे मंत्र कहते हैं। मंत्र का जाप करने से उसका स्वामी देवता यदि वश में कर लिया जाता है तो वह मंत्र सिद्ध हुआ कहलाता है। मंत्र का लोक प्रसिद्ध अर्थ है - ऐसे वर्ण, शब्द या पद जिनकी बार - बार की आवृत्ति से एक ऐसी शक्ति का संचार व संचय हो जिसे साधक अपने हित साधन अथवा परहित साधन के लिए जब चाहे प्रयोग-उपयोग कर सके। यह आवृत्ति अधिकांश मंत्रों में किसी देवता को सम्बोधित करके, किसी फल की प्राप्ति के लिए, की जाती है।

जैन मंत्र विद्या के मनीषियों ने अनेक मंत्रों की रचना की परन्तु पंच मंगल णमोकार को मंत्र की संज्ञा देकर सब मंत्रों के ऊपर प्रतिष्ठित कर दिया ताकि मंत्र विद्या का आध्यात्मिक पक्ष गौण न होने पाए। इस प्रकार मंगल-सूत्र मंगल-मंत्र बना, ऐसा जान पड़ता है, और अब यह महामंत्र कहा जाता है तथा जैन धर्म के प्रतीकों में मुख्य प्रतीक है और जैनत्व की एक पहचान ही बन गया है।

आचार्य महाप्रज्ञजी ने इसके आध्यात्मिक पक्ष को उजागर करते हुए लिखा है कि यह महामंत्र कामना पूर्ति का मंत्र नहीं है किन्तु यह वह मंत्र है जो कामना को समाप्त कर सकता है। इससे ऐहिक कामनाओं की पूर्ति होती है, वह इसका मूल प्रयोजन नहीं है। यह महामंत्र इसलिए है कि इसके साथ कोई मांग जुड़ी हुई नहीं है। जब आत्म साक्षात्कार और परमात्मा बनने की मांग पूरी होती है तब सहवर्ती अनेक उपलब्धियां स्वयं आ जाती हैं।

इसके बावजूद ज्यों ही यह मंगल-सूत्र मंत्र और महामंत्र बना तो इसके साथ भी वही हुआ जो अन्य अनेक मंत्रों के साथ हुआ अर्थात् इसके साथ भी बड़ा भारी कर्मकाण्ड, जप-जाप, विधि, संख्या, प्रयोजन, फल, महिमा-कथाएं जुड़ने ही थे, जुड़ते गए और इसके प्रभाव के बारे में जो लेखन समय-समय पर सर्जित हुआ वह लेखकों के भक्तिभाव से अतिरंजित होता रहा। इहलौकिक सफलताओं के अतिरिक्त इससे सम्यक्दर्शन, केवलज्ञान व मोक्ष तक की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा जाने लगा। **ज्ञानार्णव** में तो यहाँ तक कहा है कि तिर्यंच भी सहस्रों पाप करके, सैकड़ों जन्तुओं को मारकर यदि इस मंत्र की आराधना करे तो स्वर्ग को जाता है। फिर क्या था, इसके एक-एक वर्ण, एक-एक पद, की विशद व्याख्याएं की गईं। इसके आधार पर यंत्र-तंत्रों की रचनाएं हुई। एक-एक पद को लेकर अनेक मंत्र गठित किए गए, व्रत-विधान बने। इतना ही नहीं, पद 'सिद्धाणं' की जगह 'अशरीरी' तथा 'साधु' के स्थान पर 'मुनि' प्रस्थापित कर पांच पदों के प्रथम वर्णों को लेकर अत्यंत प्राचीन प्रणवध्वनि 'ओम्' का स्रोत होने का श्रेय भी इसी मंत्र को दे दिया गया। आज तो स्थिति यह है कि नमस्कार मंत्र को भी नमस्कार किया जाता है, उसकी महिमा के भजन गाए जाते हैं, उसकी पूजा की जाती है।

सवाल उठे कि इस मंगल सूत्र/मंत्र में जब अर्हंत आ ही गए थे तो आचार्य, उपाध्याय व सर्व साधुओं को सम्मिलित करने का क्या औचित्य रह गया था। इसका जवाब पं. कैलाशचंद्रजी ने इस प्रकार दिया है कि सच्चे गुरु तो अर्हंत सिद्ध ही हैं

किन्तु उनके नीचे भी जो अल्पज्ञ आचार्य, उपाध्याय व साधु हैं, वे भी उसी रूप के धारक होते हैं, वे भी गुरु हैं, गुरु का लक्षण उनमें भी वैसा ही पाया जाता है। आध्यात्मिक व बाह्य दृष्टि से उनमें कोई अंतर नहीं है, जो कुछ अंतर है वह अपने विशिष्ट पदों और तत्संबंधी विशेषताओं के कारण है।

किन्तु मेरा अनुमान है कि जब विहार करने वाले, विहारों व संघारामों में रहने वाले साधु-संघ को वर्गीकृत किया गया तो समस्त साधु संघ में से जो श्रुत के अध्यापन व पठन-पाठन का काम करते थे वे उपाध्याय श्रेणी में रखे गए तथा जो साधुओं को दीक्षित करते थे तथा उनके आचार व्यवहार पर नज़र रखते थे और अनुशासन अथवा चारित्र भंग होने पर दण्ड-व्यवस्था करते थे उन्हें आचार्य अभिहित किया गया। इस प्रकार श्रेणी-विभाजन हो जाने पर उनको भी पदानुकूल नमस्कार सूत्र में शामिल कर लिया गया। यह बात पंच नमस्कार के विकास के इतिहास से स्पष्ट है।

एक अन्य सवाल यह है कि सिद्धों के पहले अर्हंतों को क्यों नमस्कार किया गया अथवा अरहंतों और आचार्यों के बीच सिद्ध कैसे ? इसका समाधान यह कहकर किया गया कि अर्हंत न होते तो छद्मस्थ जनों को आप्त, आगम और पदार्थों का बोध ही नहीं हो सकता था। यह महान् उपकार अरहंतों का ही तो है कि वे ही मोक्ष मार्ग का रास्ता दिखाते हैं। इसलिए उन्हें आदि में नमस्कार किया जाता है। परन्तु यदि यह ठीक होता कि अरहन्त पहले नमस्कार के योग्य हैं तो श्रुत केवली भणित **समय प्राभृत** के व्याख्यान का प्रारंभ आचार्य कुन्दकुन्द अरहंतो को नमस्कार से करते न कि 'वंदत्तु सव्वसिद्धे' से। गाथा निम्नवत है-

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवममलमणोवमं गदिं पत्ते
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणिदं

आचार्यों, उपाध्यायों व शेष साधुओं को तो अलग से नमस्कार सूत्र/मंत्र म स्थान दिया गया किन्तु शासन प्रवर्तक तीर्थंकरों को और गणधरों को इस मंत्राधिराज में स्पष्टतः स्मरण नहीं किया गया। इससे यह लगता है कि क्रम-विसंगति का कारण है सिद्ध शब्द का अर्थ।

सामान्यतः जैन साहित्य में सिद्ध शब्द का अर्थ लगाया गया है कि जो 'धुवममल मणोवमं गदिं पत्ते' हैं, यथा-

ध्यातं सितं येन पुराण कर्म
या वो गतो निर्वृत्ति सोधमूर्ध्नि

ख्यातो ऽनुशास्ता परिनिष्ठतार्थो

यः सो ऽस्तु सिद्धः कृत मंगलो मे।

यदि सिद्धों से मतलब उन आत्माओं से है जो अष्ट कर्म को विनष्ट कर सदा के लिए उस स्थान पर रुक गए हैं जहां से आगे धर्म द्रव्य का अभाव है तो निश्चय ही प्रथम स्थान नमस्कार क्रम में उनका ही होना सुसंगत है और क्रम-भंग के लिए जो समाधान प्रचलित है वह गले नहीं उतरता। मेरे विचार से जैन वाङ्मय में सिद्ध शब्द का एकमात्र यही अकेला अर्थ नहीं है। एक अर्थ और भी है।

यही शब्द **षट्खण्डागम**, वेदना खण्ड, कृति अनुयोग द्वार, के सूत्र ४३- 'णमो लोए सव्व सिद्धाय दणाणं' में पाया जाता है। इसकी व्याख्या वीरसेन ने **धवला** में इस प्रकार की है-

सव्वसिद्ध वयणेण पुव्वं परुविदासेस जिणाणं कायव्वं,

जिणेहिंतो पुधभूददेस सव्व सिद्धाणं मणुव लंभा दो

अर्थात्, लोक में सब सिद्धायतनों को नमस्कार हो। सव्वसिद्ध इस वचन से पूर्व में कहे हुए समस्त जिनों को ग्रहण करना चाहिए क्योंकि जिनों से पृथक्भूत देश-सिद्ध व सर्व-सिद्ध पाए नहीं जाते। अतः वीरसेन के अनुसार देशजिन व देशसिद्ध तथा सकलजिन व सर्वसिद्ध एक ही बात है। इनमें से सकलजिन अर्थात् सर्वसिद्ध तो अरहंत सिद्ध हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु देश-जिन अर्थात् देश-सिद्ध के अलावा और जो देश-जिन अर्थात् देश-सिद्ध हैं उनको सूत्र २ से लेकर ४२ तक गिनाया गया है। वे हैं-

१. अवधि २. परमावधि ३. सर्वावधि ४. अनन्तावधि, ५. कोष्ठबुद्धि ६. बीजबुद्धि ७. पदानुसारी ८. संभिन्न श्रोता ९. ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानी १०. विपुलमति ११. दशपूर्वीक १२. चौदहपूर्वीक १३. अष्टांग महानिमित्तकुशल १४. विक्रियाऋद्धि, १५. विद्याधर १६. चारणऋद्धि, १७. प्रज्ञाश्रमण १८. आकाशगामी, १९. आशीर्विष २०. दृष्टिविष २१. उग्रतप २२. दीप्ततप २३. तप्तपत, २४. महातप २५. घोरतप २६. घोर पराक्रम २७. घोरगुण २८. अघोरगुण २९. आमर्षौषधि ३०. स्वेलौषधि ३१. जल्लौषधि ३२. विषौषधि, ३३. सर्वौषधि, ३४. मनबली ३५. वचनबली ३६. कायबली ३७. क्षीरस्रवी ३८. सर्पिस्रवी ३९. मधुस्रवी ४०. अवृतस्रवी ४१. अक्षीण महानस।

इन सबकी विशेषताएं वीरसेन ने **धवला टीका** में भेद प्रभेद के साथ दी हैं। यहां पर विस्तार भय से वह सारा कुछ लिखना संभव नहीं है। ये वे निर्ग्रन्थ देश-जिन हैं

जो अरहंतों और आचार्यों की कोटि के बीच के हैं। ये अवधि ज्ञानी, मनःपर्यय ज्ञानी, पूर्वों के व निमित्तों के ज्ञाता, महान् तपस्वी, अतिबलशाली, अनेक ऋद्धियों के धारक हैं, दृष्टि, वचन व स्पर्श से विष या अमृत का स्राव कर सकते हैं तथा अपने मल-विष्ठा आदि से रोगों की चिकित्सा कर सकते है। गणधर इसी श्रेणी में आते हैं क्योंकि उनमें उपरोक्त देश-जिनों के सब गुण माजूद होते हैं। वीरसेन ने इसके प्रमाण में निम्न गाथा उद्धृत की है-

बुद्धितव विउवणोसहरस बल अक्खीण सुस्सरत्तादी

ओहिमणपज्जवेहि स हवंति गणवालया सहिया।

नमस्कार सूत्र/मंत्र में सामान्य साधु-उपाध्याय, आचार्य तो हों किन्तु उपरोक्त देश-जिन गणधरादि न हों, ऐसा ठीक नहीं लगता, ना सूत्रकार या मंत्रकार ही ऐसी भूल कर सकता था। इसलिए नमस्कार सूत्र/मंत्र में सिद्ध शब्द से अष्ट कर्मों को नष्ट कर चुके हुए सिद्धों से तथा उपरोक्त ४१ देश-जिनों का अर्थ ग्रहण किया जाना समीचीन जान पड़ता है और ऐसा करने पर कोई क्रम विसंगति शेष नहीं रह जाएगी। चूंकि पद 'सिद्धाणं' में अरहंतों व आचार्यों के बीच की श्रेणी के निर्ग्रंथ भी शामिल हैं इसलिए इस पद को द्वितीय पद के रूप में ही रखना ठीक था और यही समाधान उपरोक्त प्रश्न का उचित ठहरता है।

- बी-३, श्रीराम मार्ग, श्यामनगर, जयपुर

जै महावीर

जै महावीर,
हरिये जग-पीर।
कष्ट गम्भीर।।१।।

हे वर्द्धमान!
सुन विनय गान।
दें प्रीति-दान।।२।।

हो सदाचार,
न करें मांसाहार।
रखें विचार।।३।।

हिंसा सा पाप,
मत करिये आप।
कि हो संताप।४।।

दिखा के दया,
लेवें आनन्द नया।
बताया गया।।५।।

सारा संसार,
चाह रहा है प्यार।
तो क्यों शिकार।।६।।

- दयानंद जड़िया 'अबोध'
'चन्द्रामण्डप' ३७०/२७, हाता नूर बेग, सआदतग्रज, लखनऊ

'अरिहंत' या 'अरहंत'

- डॉ. शशि कान्त

समन्वयवाणी (नवम्बर २००३-द्वितीय) और **धर्ममंगल** (२ जनवरी, २००४) में प्रकाशित 'मूल महामंत्र' लेख में आचार्य विद्यानन्द जी द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि 'अरिहंताणं' ही शुद्ध पाठ है। इसके समर्थन में बहुत से शास्त्रीय प्रमाण भी दिए गये हैं। **णयचक्क** (२७३, पृष्ठ १३७) से निम्नलिखित गाथा उद्धरित की गयी है :

मोह-रजऽअंताराय, हणणगुणादो य णाम अरिहंतो।
अरिहो पूयाए वा, सेमा णामं हवे अण्णं।।

और इसका अर्थ दिया गया है: "मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म का घात करने से **अरिहंत** नाम है और **पूजा के योग्य होने से अरिहंत** नाम है। इन गुणों के बिना किसी का अरिहंत नाम रखना नाम-निक्षेप का उदाहरण है।"

घात या हनन का भाव आ जाने से स्पष्ट ही भाव-हिंसा का बोध होता है। णमोकार मंत्र के रूप में जैन धर्म का मूल महामंत्र किस प्रकार भाव-हिंसा से प्रारंभ हो सकता है, यह एक चिन्तनीय विषय है। सर्वाधिक पूज्य के साथ घात, हनन, नाश जैसी शब्दावली का प्रयोग, चाहे वह किसी प्रकार के कर्म के संदर्भ से ही हो, जैन दर्शन के मूल सिद्धांत अहिंसा से मेल नहीं खाता। जिन किन्हीं आचार्यों ने अरिहंत शब्द का भावार्थ - 'कर्म शत्रु का नाश करने वाले' के रूप में किया है उन्होंने अनावधानतावश एक सैद्धान्तिक विपर्यय किया प्रतीत होता है। 'अरिहंत' या 'अरूहंत' रूप केवल उच्चारण भेद का परिणाम प्रतीत होते हैं। इसका शुद्ध रूप 'अरहंत' अर्थात् 'पूज्य' ही रहा, समीचीन प्रतीत होता है। पहले पद में अरहंत को नमस्कार करने का और दूसरे पद में सिद्ध को नमस्कार करने का हेतु मात्र यही रहा प्रतीत होता है कि अरहंत अपने उपदेश द्वारा सिद्धत्व प्राप्ति का मार्ग बताता है। संत कबीर ने भी गुरू या मार्गदर्शक के महत्व को निम्नलिखित दोहे में स्वीकार किया है :

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागू पाय।
गुरु बलिहारी आपके, गोविन्द दियो बताय।।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में 'नमो' का प्रयोग प्रचलित है जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय में 'णमो' का प्रयोग किया जाता है। यह भेद अर्धमागधी और शौरसेनी प्राकृतों की अपेक्षा से है।

आचार्य श्री के अनुसार **ऋग्वेद** (४.३.६.) में अर्हंत शब्द का प्रयोग हुआ है और सायण ने 'अर्हंत' का भाष्य 'पूज्य' किया है तथा **धम्मपद** (६८-६) में 'नमो अरहंतो' का प्रयोग हुआ है। जैन को वैदिक और बौद्ध धाराओं से स्वतंत्र और पृथक् प्रदर्शित करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उच्चारण दोष से 'अरिहंत' या 'अरूहंत' रूप हो जाने के कारण 'अरहंत' को भाव-हिंसा का दोषी बना दिया जाए।

यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य श्री द्वारा दिए गए उक्त दोनों संदर्भ भ्रामक हैं। **'धम्मपदं'** में सातवां वर्ग 'अरहन्तवग्गो' के नाम से संग्रहीत है जिसमें दस गाथाएं हैं। इन गाथाओं में 'अर्हत्', जो पालि में 'अरहन्त' रूपान्तरित हो जाता है, के लक्षण दिए गए हैं और बौद्ध परम्परा में बुद्ध के अतिरिक्त इस शब्द का प्रयोग बौद्ध श्रमण या भिक्षु के लिए सामान्यतः किया जाता है। केवल गाथा ६८ में 'अरहन्त' शब्द का प्रयोग हुआ है जो निम्नवत है:-

गामे वा यदि वा रञ्ञे निन्ने वा यदि वा थले।
यत्थारहन्तो विहरन्ति तं भूमिं रामणेय्यकं।।

इसका संस्कृत रूपांतर है:-

ग्रामे वा यदि वारण्ये निम्ने वा यदि वा स्थले।
यत्रार्हन्तो विहरन्ति सा भूमी रमणीया।।

और हिन्दी अनुवाद है:- गांव में या जंगल में, निम्न वा ऊंचे स्थल में जहां (कहीं) अर्हत् (लोग) विहार करते हैं, वही रमणीय भूमि है।

हिन्दी अनुवाद राहुल सांकृत्यायन के द्वारा १६३३ ई. में किया गया था और संस्कृत छाया चारू चन्द्र वसु ने की थी। इसका चतुर्थ संस्करण १६८६ ई. में बुद्ध बिहार, लखनऊ, से प्रकाशित हुआ है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि भगवान बुद्ध के लिए 'नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स' का प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ है "तुम भगवान् पूज्य सम्यक्-सम्बुद्ध को नमस्कार हो"।

जहाँ तक **ऋग्वेद** का प्रश्न है, उसके चतुर्थ मण्डल में ऐसी कोई गाथा **ऋग्वेद-संहिता** के एफ. मैक्समूलर द्वारा संपादित द्वितीय संस्करण (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, १८६० ई.) में और पं. श्रीराम शर्मा आचार्य द्वारा संपादित **ऋग्वेद** (संस्कृत संस्थान, बरेली, से १६७५ ई. में प्रकाशित) में दृष्टिगोचर नहीं है। मैक्समूलर द्वारा मण्डल ५ के अध्याय ४ का सूक्त ५ निम्नवत दिया गया है:-

अर्हतो ये सुदानवो नरो असामिशवसः।
प्र यज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चामरुद्भ्यः।।

जिसका अन्वय निम्नवत दिया गया है:-

अर्हतः। ये। सुऽदानवः। नरः। असामिऽशवसः।

प्र। यज्ञं। यज्ञियेभ्यः। दिवः। अर्चा। मरुत्ऽभ्यः।

और उसका भाष्य निम्नवत किया गया है जो सायण के अनुसार है:-

हे होतः हे आत्मन्वा येऽर्हतः पूज्याः सुदानवः शोभनदाना नरो नेतारः कर्मणामसामिशवसोऽल्पबलाः संति तेभ्यो याज्ञियेभ्यो यज्ञार्हेभ्यो दिवो द्योतमानेभ्यो मरुज्यः।। विभक्तिवचनयोर्व्यत्ययः।। यदवा कर्मणि षष्ठी।। दीप्तं यज्ञं यज्ञसाधनं हविः प्रार्च। पूज्य। प्रयच्छेत्यर्थः। अथवा दिवोऽंतिरक्षादागतेभ्य इति संबंधः।

इससे विदित होता है कि अर्हत् का अर्थ पूज्य होता था।

श्रीराम आचार्य ने मण्डल ५ के सूक्त ७ में श्लोक २ निम्नवत दिया है:-

कुत्रा चिद्यस्य समृतौ रण्वा नरो नृषदने।

अर्हन्तश्चिद्यमिन्धते सज्जनयन्ति जन्तवः।।

और इसका अर्थ दिया है :-

जिन्हें पाकर ऋत्विग्गण प्रसन्न होते हैं जिन्हें यज्ञ गृह में पूजते हुए प्रज्वलित करते हैं, जिन्हें सर्वजन मिलकर प्रधान कर्म वाले मानते हैं वे अग्नि हैं।

यहां अर्हन्त शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ पूजनीय से संबंधित है।

अमरकोश में अर्हत् या अर्हन्त शब्द नहीं दिया हुआ है वरन् अर्हण और अर्हित शब्द दिए गए हैं। अर्हण का अर्थ पूजा है और अर्हित का अर्थ पूजित है। वामन शिवराम आप्टे के **संस्कृत हिन्दी कोश** में अर्हत् का अर्थ विशेषण के रूप में पूजनीय दिया गया है और संज्ञा के रूप में बुद्ध, बौद्ध धर्म की पुरहोताई में उच्चतम पद, और जैनियों के पूज्य देवता तीर्थंकर, दिया गया है। अर्हंत शब्द का भी अर्थ विशेषण के रूप में योग्य, अधिकारी, दिया गया है और संज्ञा के रूप में बुद्ध व बौद्ध भिक्षु, दिया गया है। सर मोनियर मोनियर-विलियम्स की A Sanskrit-English Dictionary (आक्सफोर्ड प्रेस, १८९९ ई.) में अर्हन्त शब्द का अर्थ worthy, a Buddha, a Buddhist mendicant, a name of Siva दिया गया है। अर्हत् शब्द का अर्थ **ऋग्वेद** में प्रयोग के अनुसार deserving, entiled to, दिया गया है। **ऋग्वेद** के दशम् मण्डल के सूक्त ६३ के श्लोक ४ में और सूक्त ९२ के श्लोक ७ में अर्हणा

शब्द आया है जिसका अर्थ पूजनानि अर्थात् पूज्य दिया गया है। अन्य शब्दार्थ हैं- Having claim to, being entitled to worship, honour. A Buddha who is still a candidate for Nirvana. Arhat=Kshapanaka=a Jaina. An Arhat or superior divinity with the Jainas.

उपरोक्त से विदित होगा कि **ऋग्वेद** में पूज्य के अर्थ में अर्हत् शब्द का प्रयोग हुआ है, अर्हन्त का नहीं।

धम्मपद और **ऋग्वेद** के संदर्भो के उपरोक्त विवेचन से यह भासित होता है कि आचार्य श्री ने संदर्भ कदाचित् स्वयं देखकर नहीं दिए हैं।

जैनों के नमस्कार सूत्र या मंत्र का सर्वप्राचीन लिखित उल्लेख खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख में निम्नवत मिला है- **नमो अरहंतानं नमो सव सिधानं**। इसमें केवल दो ही पद हैं और केवल अरहन्तों और सिद्धों को ही नमस्कार किया गया है। इस पर विवेचन हमारी पुस्तक The Hathigumpha Inscription of Kharavela and the Bhabru Edict of Asoka में किया गया है। यह पुस्तक प्रथमतः १९७१ ई. में प्रकाशित हुयी थी और इसका द्वितीय परिवर्धित संस्करण २००० ई. में प्रकाशित हुआ है। आचार्य श्री के एक सुयोग्य शिष्य कुछ समय पूर्व हमसे मिले थे और उन्होंने यह कल्पना प्रस्तुत की थी कि पाठ 'णमो अरिहंतान' है, जैसा कि आचार्य श्री ने अपने लेख में ओड्र-मागधी के रूपान्तर में उल्लेख किया है। आचार्य श्री को 'नमो' और 'अरहंत' दोनों ही पाठ अभीष्ट नहीं है क्योंकि वे उनकी शौरसैनी के प्रति प्रतिबद्धता और 'अरि का हनन करने वाले' 'अरिहंत' रूप की प्रतिपत्ति से मेल नहीं खाते।

स्वामी वीरसेन ने **धवला** टीका (७८० ई.) में निम्नलिखित गाथा दी है :

एसो पंच णमोयारो सव्वपावप्पणासओ।
मंगलेसु अ सव्वेसु पढमं होदि मंगलम्।।

दिगम्बर आम्नाय में प्रमाण पद के रूप में यही प्रचलित रहा है। प्रथम पद में 'पणासओ' के स्थान पर 'पणासणो' और दूसरे पद में 'अ' के स्थान पर 'च' तथा 'होदि' के स्थान पर 'होइ' प्रचलन में हैं। आचार्य श्री ने इसका निम्नलिखित संस्कारित पाठ दिया है :

'ऐसो पंच णमोक्कारो। सव्वपाव पणासणो।
मंगलाणंच सव्वेसिं। पढमं होइ मंगलं।।

हरिभद्र सूरि (८वीं शती ई.) ने **महानिशीथ** में निम्नलिखित चूलिका दी है-

ऐसो पंच णमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो।

मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलम्।

श्वेताम्बर आम्नाय में यही मान्य और प्रचलित है। आचार्य श्री ने अपने संस्कार में श्वेताम्बर मान्यता को प्रायः समर्थन दिया है परन्तु अपनी ओर से कुछ संशोधन कर दिये हैं और 'हवइ' को अशुद्ध भी बताया है। इस प्रकार का संस्कार आचार्य श्री ने कदाचित् दिगम्बर-श्वेताम्बर आम्नायों में समन्वय की दृष्टि से किया है।

जैन सिद्धांत में कर्म पुद्गल के संबंध में जो विवेचना की गयी है उससे यह भासित होता है कि कर्म मल है जो आत्मा को आच्छादित करता है। जब आत्मा मुक्त अवस्था की ओर अग्रसर होती है तो कुछ कर्म मल जैसे कि मोहनीय, ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय कर्मों का इन्द्रिय-निग्रह, इच्छा-निरोध और समत्वभाव आदि पुरुषार्थ के द्वारा क्षय हो जाता है। इन्हें घातिया कर्म कहते हैं। शेष चार कर्म - आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय - अघातिया कहलाते हैं और इनकी निर्जरा होती है। यह कर्म मल, रज या धूल के समान होता है और इसको चुम्बक के उदाहरण से समझा जा सकता है। चुम्बक अपनी ओर लौह कणों को आकर्षित करता है और विकर्षित भी करता है। जब उसमें आकर्षण और विकर्षण की क्षमता समाप्त हो जाती है तो वे लौह कण स्वयं ही विलग हो जाते हैं। इसी प्रकार जब आत्मा अपने शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेती है तो वह राग-द्वेष से रहित हो जाती है और ऐसी स्थिति में कर्मरूपी मल या रज या धूल स्वयं ही आत्मा से झड़ जाती है। कर्मों के क्षय से भाव यही है कि वे कर्म स्वयं ही विलग हो जाते हैं। इस व्यवस्था में हनन या घात का प्रश्न नहीं उठता। यदि हनन या घात का प्रश्न उठता है और उसका कर्ता नमस्कार मंत्र के प्रथम पद का परम पूज्य होता है तो यह जैन सिद्धांत के मूल आधार अहिंसा का ही उच्छेद होगा।

यह भी विचारणीय है कि जबकि अन्य मुक्त आत्माओं का शरीर शान्त होने पर सभी आठ कर्मों का क्षय हो जाता है, तीर्थंकर के नाम और आयु कर्म का क्षय नहीं होता क्योंकि उनका नाम उनके निर्वाण के बाद भी चलता रहता है।

हमारी विनती है कि आचार्य श्री उपरोक्त विवेचन पर ध्यान देने की कृपा करें और जैन धर्म एवं सिद्धांत के संदर्भ में सम्यक् निरूपण करने का अनुग्रह करें।

- ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

सामान्य केवली और अर्हन्त पद : एक समीक्षा

- साध्वी विजय श्री 'आर्या'

तुलसी प्रज्ञा, त्रैमासिक, जुलाई १९९१ में साध्वी डॉ. सुरेखा जी का एक शोधपरक लघु निबंध पढ़ने में आया-'क्या सामान्य केवली के लिए अर्हन्त पद उपयुक्त है ?'

साध्वी जी ने उक्त लेख में आगमों के अनेक उल्लेख देकर विषय को एक चिन्तन का स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने लिखा कि सामान्य केवली के लिये आगमों में कहीं भी 'अर्हन्त' या 'अरिहंत' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, उन्हें सर्वत्र 'केवली' संज्ञा से ही अभिहित किया है, अतः उनकी 'णमो अरिहंताणं' पद में गणना न कर 'णमो लोए सव्वसाहूणं' पद में गणना की जानी संभव है।

साधु शब्द के विभिन्न अर्थ-

यहां कुछ बातें विचारणीय हैं। सर्वप्रथम तो यह कि केवली अरिहंत पद के अधिक निकट हैं, साधु पद के नहीं। भगवती सूत्र की वृत्ति में आचार्य श्री अभयदेव सूरि ने 'साधु' शब्द के तीन अर्थ किये हैं-

१. ज्ञानादि शक्तियों के द्वारा जो मोक्ष की साधना करते हैं, वे साधु हैं।

२. जो सर्वप्राणियों के प्रति समता भाव धारण करते हैं, किसी पर राग-द्वेष नहीं रखते, निन्दक प्रशंसक के प्रति समताभाव धारण करते हैं, प्राणी-मात्र को आत्मवत् समझते हैं, वे साधु हैं।

३. जो संयम पालन करने वाले भव्य-प्राणियों को मोक्ष-साधना में सहायक बनते हैं, वे साधु कहलाते हैं।

दिगम्बर साहित्य में २८ मूलगुण रूप सकल चरित्र का पालन करने वाला ही साधु की संज्ञा प्राप्त करता है।

उक्त सब व्याख्याओं से यह स्पष्ट होता है, कि साधु वह हैं, जो स्व साधना मार्ग में स्थित रहता हुआ समाज में अपने आदर्श स्थापित करता है । यह अर्थ 'केवली' में घटित नहीं होता क्योंकि केवली की साधना संपूर्ण हो चुकी है, वे साधना मार्ग में स्थित नहीं है, वरन वे साध्य को प्राप्त कर चुके हैं, अर्थात् परमात्मा बन चुके हैं, इसलिये उन्हें देव की कोटि में रखा जाता है। साधु अर्थात गुरू की कोटि में नहीं। साधु की कोटि में आचार्य और उपाध्याय इन दो पदों का समावेश तो हो सकता है, क्योंकि आचार्य, उपाध्याय एवं साधु तीनों साधक हैं, इनका पारस्परिक अंतर केवल संघकृत उपाधि का है, साधुत्व की अपेक्षा से तीनों समान हैं। तथापि नमस्कार महामंत्र में साधु से उपाध्याय का एवं उपाध्याय से आचार्य का पद उत्तरोत्तर गरिमामय मानकर

क्रमशः चतुर्थ एवं तृतीय पद पर स्थान दिया है, और पूज्यता एवं नमस्कार की दृष्टि से प्रथम आचार्य, पश्चात् उपाध्याय एवं उसके पश्चात् साधु को नमस्कार किया गया है। किंतु 'केवली' तो गुणों की दृष्टि से भी साधु, उपाध्याय एवं आचार्य इन तीनों से ऊपर हैं। यदि सामान्य केवली की 'साधु' पद में गणना की जायेगी, तो उन्हें आचार्य एवं उपाध्याय पद से भी निम्नस्थानीय मानना पड़ेगा, जो कि कथमपि संगत नहीं है।

दूसरी बात, तीर्थंकर में जो-जो विशेषताएं सामान्य केवली से अधिक कही हैं, वे गुणों की अपेक्षा से नहीं कही, वे सब विभूति की अपेक्षा से कही गई हैं। विभूति उदयभाव है, क्षायिक भाव नहीं। आत्मिक गुणों का प्रकटीकरण सामान्य केवली एवं अरिहंत में समान है।

गुणस्थान प्रकरण में अरिहंत तीर्थंकर एवं केवली एक ही (१३वें) गुणस्थान के प्रापक कहे हैं। गुणस्थानों में कहीं भी अरहंत (तीर्थंकर) और केवली का पृथक्-पृथक् गुणस्थान नहीं कहा। चार घाति कर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अंतराय) का क्षय जैसे तीर्थंकरों के हुआ है वैसा ही सामान्य केवली के हुआ है। ऐसा भी नहीं कि एक का ज्ञान अधिक विशुद्ध एवं स्पष्ट है, दूसरे का कम। दोनों का केवलज्ञान, केवलदर्शन संपूर्ण है, स्पष्ट है और एक समान है। चार कर्मों के क्षय से जैसे तीर्थंकर को 'जिन', 'वीतराग', 'सर्वज्ञ' एवं 'सदेह परमात्मा' कहा जाता है। वैसे ही सामान्य केवली को भी 'जिन', 'सर्वज्ञ', 'वीतराग' एवं सदेह परमात्मा ही कहा जाता है। तीर्थंकर और केवली दोनों तद्भव मोक्षगामी हैं। इसके अतिरिक्त ऐसा उल्लेख भी कहीं पढ़ने में नहीं आया कि केवली तीर्थंकर को अपने से बड़ा मानकर उन्हें नमस्कार करते हों। फिर किस अपेक्षा से सामान्य केवली को नमस्कार महामंत्र के प्रथम पद में स्थान न देकर पंचम पद में स्थान दिया जाय।

अरिहंत शब्द की विभिन्न व्याख्याएं-

अरिहंत की जितनी भी व्याख्याएं दिगम्बर, श्वेताम्बर साहित्य में उपलब्ध होती हैं, वे सब केवली के अर्थ में घटित होती हैं। आचार्य अभयदेव ने **भगवती सूत्र** की वृति में 'अरहंत' शब्द के संस्कृत में सात रूपान्तर बताए हैं:-

(१) अर्हन्त- वे लोकपूज्य पुरुष, जो देवों द्वारा निर्मित अष्ट महा प्रातिहार्य रूप पूजा के योग्य हैं, इन्द्रों द्वारा भी पूजनीय हैं।

(२) अरहोन्तर- सर्वज्ञ होने से एकान्त (रह) और अन्तर (मध्य) की कोई भी बात जिनसे छिपी हुई नहीं है, वे प्रत्यक्षदृष्टा पुरुष हैं।

(३) अरथान्तः- रथ शब्द समस्त प्रकार के परिग्रह का सूचक है। जो समस्त प्रकार के परिग्रह से और अन्त (मृत्यु) से रहित है।

(४) अरहन्त- आसक्ति से रहित अर्थात् राग, द्वेष और अज्ञान का सर्वथा 'अन्त'- नाश करने वाले।

(५) अरहयत्- तीव्र राग के कारणभूत मनोहर विषयों का संसर्ग होने पर भी जो परम वीतराग होने से किंचित् भी रागभाव को प्राप्त नहीं होते, वे महापुरुष 'अरहयत्' कहलाते हैं।

(६) अरिहन्त- अष्टविध कर्म-शत्रुओं का विशिष्ट साधना द्वारा क्षय करने वाले।

(७) अरुहन्त- 'रुह' अर्थात् कर्म रूपी अंकुर को जलाकर जन्म-मरण की परम्परा को सर्वथा विनष्ट करने के कारण उन्हें 'अरुहन्त' कहते हैं।

इस सम्बन्ध में **आवश्यक निर्युक्ति** की निम्नांकित गाथाएं भी दृष्टव्य हैं -

(क) अरिहंति वंदणनमंसणाणि, अरिहंति पूयसक्कारं।
सिद्धगमणं च अरहा, 'अरहंता' तेण वुच्चंति।। **आवश्यक निर्युक्ति** ९२१

(ख) अट्ठविहंपि य कम्मं अरिभूयं होइ सयलजीवाणं।
तं कम्ममरिं हंता 'अरिहंता' तेण वुच्चंति।।
- **भगवती वृति** पत्रांक ३ ; **आवश्यक निर्युक्ति** ९२०

(ग) अरुहंता असेस कम्मक्खएणं णिद्दड्ढ भवंकुरत्ताओ,
न पुणो हि भवंति, जम्मंति उववज्जंति वा।

अरिहन्त के दो प्रकार-

उक्त सभी परिभाषाओं में केवल एक 'अर्हन्त' शब्द की परिभाषा से ही 'तीर्थंकर' का बोध होता है। किंतु इसके अतिरिक्त अन्य सभी परिभाषाएं सामान्य केवली एवं अरिहंत (तीर्थंकर) में समान रूप से घटित होती हैं। 'अर्हन्त' शब्द को व्याख्यायित करते हुए **पंच मंगलमहाश्रुत स्कन्ध** में कहा है-

'अतिशय पूजार्हत्वाद्वार्हन्तः'

अर्थात् अतिशय पूजा के योग्य होने से वे 'अर्हन्त' कहे जाते हैं। यहां अतिशय पूजा के महत्व से 'तीर्थंकर' का व्यपदेश किया गया है। जैन-ग्रन्थों में इसका भी स्पष्टीकरण इस प्रकार से किया गया है-

अर्हन्त दो प्रकार के हैं- तीर्थंकर एवं सामान्य केवली। विशेष पुण्य सहित अर्हन्त जिनके कि कल्याणक महोत्सव मनाये जाते हैं, वे 'तीर्थंकर' हैं एवं जिनके कल्याणक महोत्सव नहीं मनाये जाते, जो अष्टमहाप्रतिहार्यादि से रहित होते हैं, वे सर्व सामान्य अर्हन्त कहलाते हैं। केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञ युक्त होने के कारण इन्हें केवली भी कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि सामान्य केवली भी अरिहंत ही होते हैं, केवल उनमें बाह्य विभूति नहीं होती।

आगमकारों ने सामान्य केवली के साथ 'अरिहंत' विशेषण प्रयुक्त नहीं किया, इस एक तर्क से उन्हें पंचम पद में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता, वरन् जहां-जहां 'अर्हन्' शब्द सातिशय पूजा के योग्य अर्थ में ग्रहण किया जाता है, वहां-वहां अरहं

से अभिप्राय 'तीर्थंकर' समझना चाहिये और जहां-जहां वीतराग, जिन, सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी के रूप में किया जाता है वहां-वहां आत्मिक ऐश्वर्य को प्राप्त सभी केवलज्ञानी के रूप में 'अरिहंत' शब्द का ग्रहण किया जाना चाहिये।

सामान्य केवली की अरिहंत में ही गणना है इसका एक कारण यह भी है कि यदि नमस्कार मंत्र में केवली का परिहार कर अरिहंत से तीर्थंकर को ही नमस्कार करना अभिप्रेत होता, तो 'णमो तित्थयराणं' भी प्रथम पद हो सकता था, किंतु वैसा न होकर 'णमो अरिहंताणं' पद होने से यही आशय ध्वनित होता है कि जितनी भी राग-द्वेष विजेता सशरीरी आत्माएं हैं, उन सबको मेरा नमस्कार है, चाहे फिर वे किसी भी नाम से, किसी भी शब्द से पुकारी जाती हों। आचार्य हरिभद्र ने वीतराग भगवान की स्तुति करते हुए इसी आशय को अपने समक्ष रखा था। उन्होंने कहा है-

'भवबीजांकुर जनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरौ वा जिनो वा नमस्तस्मै।।

अर्थात् भव-बीज का अंकुर राग-द्वेषादि जिसके भी क्षय हो गये हों, वह आत्मा ब्रह्मा, विष्णु, हरि या जिन किसी भी नाम से पुकारी जाती हों, उन सबको मेरा नमस्कार है।

तीर्थंकर के साथ अरहंत शब्द के प्रयोग का हेतु

अब रहा प्रश्न कि अरहंत शब्द का प्रयोग आगमों में स्थान-स्थान पर 'तीर्थंकर' के अर्थ में या तीर्थंकर के साथ प्रयुक्त हुआ है, उनके साथ 'केवली' शब्द का प्रयोग क्यों नहीं किया गया, इसका समाधान यह प्रतीत होता है कि वे सातिशय केवली हैं, उन्हें विशिष्टता प्रदान करने के लिये अरहन्त शब्द से संबोधित किया जाना संभव है। तीर्थंकर को विशेष रूप से 'अरहंत' विशेषण लगाकर उनका 'अपायापगम अतिशय' भी सूचित किया जाता है।

चतुर्विंशति स्तव में तीर्थंक्रर के लिये 'जिन', 'अरिहंत' एवं 'केवली' इन तीनों शब्दों का प्रयोग हुआ है यथा-

'लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली।।

इसी प्रकार **शक्र-स्तुति** में भी उक्त सभी शब्द हैं-

णमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं आइगराणं
तित्थयराणं.......जिणाणं जावयाणं.....इत्यादि।

उक्त सर्व कथन से यही सिद्ध होता है कि 'अरिहंत' शब्द सामान्य केवली एवं तीर्थंकर दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है, जैसे 'जिन और केवली' शब्द। इसके अलावा पंच परमेष्ठी मंत्र जो जैनों का सर्वमान्य मंत्र है उसमें भी 'णमो अरिहंताण' पद से तीर्थंकर एवं सामान्य केवली का समान रूप से अन्तर्भाव हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं।

स्वाध्याय करें

स्वाध्याय करें,
उसके बिन सब शून्य। स्वाध्याय स्वयं अध्ययन।।
निज़ पदार्थ गुणपर्यायी। गुण शाश्वत पर्याय क्षयी।।
जानो दोनों द्रव्यमयी।
कर निज गुण औ पर्यायों का ज्ञान। स्वाध्याय स्वयं अध्ययन।।१।।
स्वाध्याय बिना ना समझे। देव शास्त्र गुरु जो सच्चे।
जाने बिन पूजे कैसे?
स्वाध्याय हि से उपासना अरू पूजन। स्वाध्याय स्वयं अध्ययन।।२।।
द्रव्यानुयोग बतलाता तेरा स्वरूप सुखदाता
हित अहित रु कर्ता भोक्ता
उसके बिन तो बस स्वाध्याय अपूर्ण। स्वाध्याय स्वयं अध्ययन।।३।
करणानुयोग कर्मगति बतलाता परिणाम स्थिति
जिससे मिलती है शान्ति।
परिणामों का करे नित्य अध्ययन। स्वाध्याय स्वयं अध्ययन।।४।।
चरणानुयोग आचार बाह्य लक्षणी आधार
करणानुयोग अनुसार
धर्म न उसमें पर उस बिन धर्म हि न। स्वाध्याय स्वयं अध्ययन।।५।।
प्रथमानुयोग दृष्टान्त तीनों अनुयोग विख्यात
जानो उनको भी स्पष्ट
दृष्टान्तों में उलझे ना अध्ययन। स्वाध्याय स्वयं अध्ययन।।६।।
अपना स्वभाव निजगुणमय शाश्वत अखंड अरु ध्येय
शुभ अशुभ सर्वदा हेय
निज स्वभाव के हेतु आलम्बन
स्वाध्याय स्वयं अध्ययन।।७।।

- मनोहर मारवडकर
स्वधर्म, १७ (ब) महावीर नगर, नागपुर- १

परमेष्ठी नमस्कार मंत्र

– श्री अजित प्रसाद जैन

जैन धर्म में **णमोकार मंत्र** का सर्वोपरि महत्व है। इसमें सिद्धि प्राप्त शुद्धात्माओं (अर्हन्त-सिद्ध) तथा सिद्धि प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर साधकों (आचार्य-उपाध्याय-साधु) की ही वन्दना की गई है। इसे मंगल सूत्र तथा महामंत्र भी कहा गया है। इसमें किसी व्यक्ति विशेष की वन्दना न होने के कारण इसे अनादि-निधन भी माना गया है, तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर इस महामंत्र के वर्तमान पंच नमस्कार स्वरूप का विकास भी शनैः शनैः कुछ शताब्दियों में हुआ प्रतीत होता है।

कलिंग सम्राट खारवेल (२री शती ई. पूर्व) द्वारा उदयगिरि की हाथी गुम्फा में उत्कीर्ण कराए गए सुप्रसिद्ध विशाल शिलालेख में **णमोकार मंत्र** का केवल दो पदों का निम्नलिखित रूप ही प्राप्त होता है।

नमो अरहंतानं।
नमो सव सिधानं।।

यह परमेष्ठी नमस्कार मंत्र था। अर्हन्त और सिद्ध ही हमारे आध्यात्मिक उत्कर्ष के परम लक्ष्य हैं, हमारे परम इष्ट हैं।

मोक्षमार्ग के साधक आचार्य-उपाध्याय-साधु भी हमारे इष्ट हैं, पर परम इष्ट तो अर्हन्त-सिद्ध ही हैं। साधु हमारे गुरु हैं, अर्हन्तसिद्ध परम गुरु हैं।

जैन वाङ्गमय में अर्हन्त शब्द रुढ़ि रूप से तीर्थंकरों के लिए प्रयुक्त हुआ है। (धर्म साहित्य में 'अर्हन्त' शब्द के भी कई रूप-अरहन्त, अरिहंत, अरुहन्त आदि मिलते हैं जिसका कारण उच्चारण भेद रहा प्रतीत होता है। महामेधावी जैन आचार्यों ने समन्वय की दृष्टि अपनाते हुये अर्हन्त के सभी रूपों को सार्थक सिद्ध किया है।) वे ही मोक्ष मार्ग के नेता हैं, अपनी दिव्य ध्वनि से सभी प्राणियों का कल्याणकारी धर्मोपदेश देते हैं। अन्य केवली भगवन्त अर्हत हैं, वे अर्हन्त हैं, अन्य जिन हैं वे जिनेन्द्र हैं। जैन धर्म अर्हन्तों (तीर्थंकरों) का ही धर्म कहलाता है, जैन मंदिरों में उन्हीं की प्रतिमाएं प्रतिष्ठित की जाती हैं, पूजी जाती हैं तथा मंदिर अर्हन्त तीर्थंकर देव के समवसरण के प्रतीक हैं तथा भक्त साक्षात समवसरण में विराजमान जिनेन्द्र देव के दर्शन करने की भावना से मंदिर जाता है। अतः प्रथम पद में उन्हें ही नमस्कार किया गया है तथा दूसरे पद में अन्य सभी सिद्धों (शरीरी-अशरीरी) को नमस्कार किया गया है। एक आम धारणा यह चली आ रही है कि सिद्धों से तात्पर्य उन अशरीरी शुद्ध आत्माओं से ही है जो मोक्ष गमन कर लोक के अग्रभाग में सिद्ध शिला पर विराज

रही हैं। हमारी समझ में यह धारणा भ्रान्ति पूर्ण है तथा सिद्धों से तात्पर्य शरीरी सिद्ध (केवली भगवन्त) तथा सिद्ध शिला पर विराजमान अशरीरी सिद्धों (शुद्ध आत्माओं) दोनों से है। इस मूल नमस्कार सूत्र में वन्दित अर्हन्त और सिद्ध भगवान ही हमारे परम इष्ट परमेष्ठी हैं तथा अपने स्वयं के पुरुषार्थ से उनके समान स्वात्म रूप की लब्धि (सिद्धि) प्राप्त करना ही हमारा परम लक्ष्य है।

पूज्यपाद स्वामी (५वीं शती ई.) ने अपने सुप्रसिद्ध **सिद्ध भक्ति स्तोत्र** के प्रथम श्लोक के द्वितीय चरण में सिद्धि को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है-

'सिद्धि स्वत्मोपलब्धि---"

अनन्य शास्त्र मर्मज्ञ विद्वान पं. जुगल किशोर मुख्तार ने **सिद्ध भक्ति स्तोत्र** की अपनी पद्यानुवाद कृति **सिद्धि सोपान** के दूसरे पद में उपरोक्त का भाव निम्न प्रकार स्पष्ट किया है-

'स्वात्मभाव की लब्धि सिद्धि है, होती है वह उन दोषों के उच्छेदन से,
आच्छादक जो ज्ञानादिक गुण वृन्दों के,
योग्य साधनों की सयुक्ति से, अग्नि प्रयोगादिक द्वारा
हेम शिला से जग में जैसे हेम किया जाता न्यारा।

[फुट नोट में ज्ञानावर्णादि द्रव्य कर्मों तथा रागादि भाव कर्मों को दोष बताया गया है।]

'सिद्धभक्ति' के श्लोक ६ के वाक्य "भूतः भव्या भवन्तः सकल जगति मे, स्तुयमाना विशिष्टैयः" का भाव **सिद्धिसोपान** के पद २० में निम्न प्रकार स्पष्ट किया गया है-

'ऐसे हुए अनन्त सिद्ध औ वर्तमान है संप्रति जो,
आगे होंगे सकल जगत में, विबुध जनों से संस्तुत जो।
उन सबको, नत मस्तक हो, मैं बन्दू तीनों काल सदा
तत्स्वरूप की शीघ्र प्राप्ति का, इच्छुक होकर सहित मुदा।।'

इससे स्पष्ट है कि ज्ञानावर्णादिक चार घातिया कर्मों का नाश कर स्वात्म रूप की लब्धि को प्राप्त करने वाले सभी केवली भगवन्त सिद्ध हैं। सभी शरीरी सिद्ध आयु कर्म के क्षय के साथ अन्य सभी अघातिया कर्मों का भी अप्रयास क्षय हो जाने से अन्तिम देह त्याग कर निश्चय से मोक्ष गमन करते हैं। वर्तमान के सिद्ध सशरीरी केवली भगवन्त हैं तथा सिद्ध शिला पर विराजती अशरीरी शुद्ध आत्माएं अतीत के सिद्ध-केवली भगवन्तों के स्मृति शेष हैं तथा इसलिए समान रूप से पूज्य हैं, वंदनीय हैं। सशरीरी सिद्धों की परम्परा के दर्शन परवर्ती काल के सिद्ध सम्प्रदाय के गुरुओं में भी होते हैं। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ, गुरु गोरखनाथ आदि को उनके भक्त जीवन्त सिद्ध

ही मानते थे। इस सिद्ध सम्प्रदाय में नेमिनाथी, पारसनाथी शाखाओं के भी नाम मिलते हैं।

सिद्धि सोपान के पद ६ में, स्वामी समन्तभद्रादि प्राचीन महान् आचार्यों के पंरज्योति परमेष्ठि आदि वचनों के अनुसार स्वात्म भाव की लब्धि को प्राप्त केवली भगवन्तों के कुछ खास नाम गिनाए गए हैं जो केवल उन्हीं के लिए प्रयुक्त होते हैं, यथा-

वीतराग,-अर्हत्-परमेष्ठी-आप्त-सार्व-जिन-
परं ज्योति-सर्वज्ञ-कृति-प्रभु-जीवन्मुक्त

अतः अन्य किसी के लिए इन नामों को प्रयुक्त करना केवली भगवन्तों का अवर्णवाद ही माना जाना चाहिए।

आचार्य गुणभद्र (९वीं शती ई.) **उत्तर पुराण** में भगवान महावीर स्वामी के केवल ज्ञानोत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखते हैं-

'-वैशाख शुक्ला दशमी के दिन अपराह्न् काल में जब श्रमण महावीर ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नाम के वन के मध्य शाल वृक्ष के नीचे एक बड़ी शिला पर विराजमान थे...... परिणामों की विशुद्धता को बढ़ाते हुए शुक्लध्यान के द्वारा चारों घातिया कर्मों को नष्टकर उन्होंने अनन्त चतुष्टय प्राप्त किए और चौंतीस अतिशयों से सुशोभित होकर वे महिमा के घर हो गए...... उसी समय सौधर्मेन्द्र चारों प्रकार के देवों के साथ आया और उसने ज्ञान कल्याणक संबंधी पूजा की। समस्त विधि पूर्ण की। पुण्य रूप परम औदारिक शरीर की पूजा तथा समवसरण की रचना होना आदि अतिशयों से सम्पन्न श्री वर्द्धमान स्वामी परमेष्ठी कहलाने लगे और परमात्मा पद को प्राप्त हो गए।" (पर्व ७४, श्लोक ३४८-३५५)

यह ध्यान देने योग्य है कि आचार्य गुणभद्र ने वर्द्धमान स्वामी को केवलज्ञान प्राप्ति के उपरान्त ही परमेष्ठी कहलाने का अधिकारी माना है, उसके पूर्व की साधनाकाल (मुनि) की अवस्था में नहीं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यद्यपि **णमोकार मंत्र** के वर्तमान पंच पद रूप का विकास पहली शताब्दी ईसवी (**षट्खंडागम**) में हो गया था, ९वीं शताब्दी के अन्त तक आचार्य-उपाध्याय-साधु को परमेष्ठी की संज्ञा से विभूषित नहीं किया गया था तथा केवल अर्हन्त और सिद्ध भगवान (सामान्य केवली और अशरीरी शुद्ध आत्माएं) ही परमेष्ठी माने जाते थे। आचार्य-उपाध्याय-साधु को भी परमेष्ठी घोषित करने का कार्य संभवतया परवर्ती नग्न भट्टारक गुरुओं के काल में हुआ होगा जो उन्होंने स्वयं को इस प्रकार महिमा मंडित करके शिथिलाचारी कहलाने के कलंक से बचने के प्रयास में किया होगा। विद्वज्जनों से अपेक्षा है कि परवर्ती साहित्य के संदर्भ में इस बिन्दु पर यथोचित प्रकाश डालें।

जस्टिस एम.एल. जैन ने इसी अंक में प्रकाशित अपने लेख 'एसो पंच णमोयारो--" में **षट्खण्डागम-वेदना खण्ड-अनुयोग द्वार** के सूत्र २ से ४२ तक में गिनाए गए विशिष्ट ऋद्धिधारी (अवधि- परमावधि-मनपर्ययः ज्ञानी, चारण ऋद्धिधारी आदि) महामुनियों को देश- सिद्ध मानते हुए उनकी वन्दना भी णमोकार मंत्र के दूसरे पद (णमो सिद्धाणं) में मानी है।

हम जज साहब के इस विचार से सहमत नहीं हैं। कोई भी आचार्य-उपाध्याय-साधु अपनी ही कोटि में रहते हुए अपने पुण्योदय एवं तप के प्रभाव से इन छोटी-मोटी सिद्धियों को अनायास (जैसे विष्णु कुमार मुनि को विक्रिया ऋद्धि की प्राप्ति) या प्रयास से प्राप्त कर सकता है पर मोक्ष मार्ग में इनका विशेष महत्व नहीं है। तपादि के परिणाम स्वरूप जीवात्मा नवग्रैवेयक तक पहुंच जाता है पर फिर चारों गतियों में भ्रमण करता है। आजकल तो एक बालाचार्य श्री जो दिगम्बर मुनि वेश में ही भट्टारक पदाभिषिक्त भी होना चाहते थे, अपनी (किसी मंत्र सिद्धि की) तथाकथित लब्धि की बाकायदा वार्षिक जयन्ती भी समारोहपूर्वक मनाते हैं।

साध्वी डॉ. सुरेखा जी ने अपने लेख 'क्या सामान्य केवली के लिये अर्हन्त पद उपयुक्त है?' (**तुलसी प्रज्ञा**, जुलाई १९९१ में प्रकाशित) में प्रतिपादित किया था कि चूंकि आगमों में सामान्य केवली के लिये कहीं भी 'अर्हन्त' या 'अरिहन्त' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, उनकी वन्दना 'णमो अरिहन्ताणं' पद में न करके 'णमो लोए सव्व साहुणं' में की जानी संभव है। साध्वी विजय श्री 'आर्या' ने अपने लेख 'सामान्य केवली और अर्हन्त पद-एक समीक्षा' (इसी अंक में प्रकाशित) में उपरोक्त विचार से असहमत होते हुये यह प्रतिपादित किया है कि अर्हन्त (तीर्थंकर) सातिशय केवली ही तो हैं, अतः सामान्य केवलियों की वंदना भी 'णमो अरिहन्ताणं' पद में ही होती है, माना जाना चाहिये। उन्होंने **चतुर्विंशति स्तव** का हवाला देते हुये कहा है कि उसमें तीर्थंकर के लिये जिन, अरिहन्त एवं केवली इन तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है। हमारा इस संबंध में केवल इतना ही कहना है कि सभी तीर्थंकर जिन, केवली हैं पर सभी जिन, केवली तीर्थंकर नहीं होते।

हम इन दोनों विदुषी साध्वियों के निष्कर्ष से भी सहमत नहीं हैं तथा जैसा कि हमने इस लेख में ऊपर स्पष्ट किया है 'सिद्धों' से तात्पर्य जीवन्त शरीरी सिद्ध (वर्तमान के सामान्य केवली) तथा अशरीरी सिद्ध (अतीत के केवली भगवन्त जो अब शुद्धात्म रूप में सिद्ध शिला पर विराज रहे हैं) दोनों से है तथा दोनों की ही वन्दना 'णमो सिद्धाणं' पद में की गई है।

हमारी समझ में मोक्ष मार्ग के साधक के लिए तो स्वात्मोपलब्धि की सिद्धि ही महत्व रखती है और उसे प्राप्त कर लेने वाला साधक ही सिद्ध कहलाने तथा सिद्ध के रूप में वंदना किए जाने का अधिकारी है।

- पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ

शाकाहार : महत्त्व एवं उपयोगिता

- डॉ. शैलबाला शर्मा

मानव जाति की उत्पत्ति के साथ ही प्राकृतिक तत्वों जैसे फल-फूल, शाक एवं अन्न की भी उत्पत्ति हुई ताकि उनको ग्रहण कर मानव जाति जीवित रह सके। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव की प्रवृति में भी परिवर्तन आरम्भ हो गया। भौतिकवाद एवं आधुनिकता के विस्तार के कारण धीरे-धीरे मनुष्य के खान-पान में परिवर्तन आने लगा। शाकाहारी भोजन को त्याग मांसाहार की ओर मनुष्य आकृष्ट होने लगा। परन्तु आज पुनः मानव की सोच में परिवर्तन आने लगा है। वह शाकाहार की महत्ता को पहचानने एवं स्वीकारने लगा है। आज विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि शाकाहार भोजन का सबसे उत्कृष्ट तरीका है।

शाकाहार एवं धर्म -

यदि सैद्धान्तिक रूप से देखा जाए तो विश्व के समस्त धर्म मांसाहार के विरोधी हैं। किसी भी धर्म में चाहे वह हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन अथवा बौद्ध हों, इनके गुरु कभी भी मांसाहार के पक्षधर नहीं रहे। कोई भी व्यक्ति चाहे वह राम या कृष्ण का भक्त हो, महावीर अथवा बुद्ध का अनुयायी हो, ईसा को मानने वाला हो अथवा गुरुनानक का सेवक हो, कोई भी इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि जिस गुरु अथवा ईश्वर में उनकी आस्था है, वह मांसाहारी नहीं बल्कि शाकाहारी थे। हर धर्म में इस बात की शिक्षा दी जाती है कि हम ईश्वर की संतान हैं। दुनिया के समस्त पदार्थ ईश्वर द्वारा ही दिये गये हैं और सभी तत्वों में ईश्वर का ही अंश पाया जाता है। यदि हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक प्राणी में ईश्वर विद्यमान है तो हम जीव हत्या कर ही नहीं सकते। यदि विभिन्न धर्मों के आधार पर शाकाहार की व्याख्या करें तो पाते हैं कि सभी धर्म एकमत से शाकाहार समर्थक एवं मांसाहार विरोधी हैं।

हिन्दू धर्म में संसार में जितने भी जीव हैं, उसमें ईश्वर के अंश को स्वीकार किया गया है। इसमें अहिंसा, ममता, दया, प्रेम एवं क्षमा को प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है। मांसाहार को बिल्कुल त्याज्य, दोषपूर्ण और आयु क्षीण करने वाला कहा गया है। मुस्लिम सूफी संतों ने भी सादा भोजन, जीव दया एवं नेकनीयती पर ही जोर दिया। आज कुछ मुस्लिम वर्ग कुर्बानी के नाम पर बकरों का बलिदान करते हैं और उससे तैयार मांस खाते हैं, परन्तु हम गहराई में जायें तो पाते हैं कि यह उनके धर्म के खिलाफ है। **कुरान शरीफ** में कहीं यह उल्लेख नहीं है कि कुर्बानी के पश्चात मांस

भक्षण किया जाय। **कुरान शरीफ**, जो मुसलमानों का महान् धार्मिक ग्रन्थ है, सर्वत्र मांसाहार निषेध तथा अहिंसा पर बल दिया गया है। इसमें शिकार करने को भी गलत बताया गया है। मुस्लिम सम्प्रदाय में अनेकों सूफी संत, महात्मा एवं विद्वान हुए जिन्होंने सदैव मांसाहार का विरोध किया। एक प्रसिद्ध संत के अनुसार "जिस जीव का मांस काटकर खाते हैं, उसका बदला खाने वाले को अपने मांस से देना पड़ता है। दूसरे के बहाये खून की प्रत्येक बूंद का हिसाब उसे अपने खून की प्रत्येक बूंद से चुकाना पड़ता है। यही प्रकृति का नियम है।"

सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरुनानक एवं उनके प्रचारक गुरू गोविन्द सिंह सदैव मांसहार विरोधी तथा जीव दया एवं अहिंसा के प्रबल समर्थक रहे। इनके अनुसार जिसके हृदय में दया, ममता निवास करती है, वह मांसाहारी हो ही नहीं सकता। हिंसा की मनाही व जीव दया के संदर्भ में गुरुवाणी में उल्लेख किया गया है- "हिंसा तउ मन से नहीं छूटी जीउ अदइया नही पाली।" मांस खाना और जीव हिंसा करना, यह धर्म कदापि नहीं हो सकता। कबीर ने भी कहा है -

"बकरी पाती खात है तौकी काढे खाल।
जो बकरी को खात है ताको कौन हवाल।।
भांग माछली सुरापान जो जो प्राणी खाय।
तीरथ बरत अरू नेम किये सभै रसातल जाय।।"

यदि सिक्ख धर्मानुयायी अपने धार्मिक ग्रंथों के उपदेश का अनुसरण करें तो वह जीभ के स्वाद हेतु मांसाहार करना तो दूर उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

ईसा मसीह ईसाई धर्म के प्रवर्तक थे। उन्होंने जीवों पर दया एवं दूसरों से प्यार का सिद्धांत अपनाया। ईसाई धर्म का प्रमुख ग्रन्थ **बाईबिल** है, जिसका अनुवाद विश्व की सभी भाषाओं में हुआ है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में कहीं भी मांस खाने की अनुमति नहीं प्रदान की गयी है। इसके विपरीत इसमें सर्वत्र शाकाहार एवं अन्नाहार पर ही बल दिया गया है। आज विश्व के लगभग २/३ भाग में ईसाई निवास करते हैं और सामान्यतः वे मांसाहारी प्रवृति के होते हैं। उनको ईसा मसीह के उपदेशों एवं वचनों को याद दिलाना आवश्यक है ताकि वे धर्म को, धर्मग्रन्थ के महत्व को जान सकें। ईसा मसीह के वचनों के अनुसार- *"जो हत्या करता है वह असल में अपनी ही हत्या कर रहा है* । जो मारे हुए जानवर का मांस खाता है, वह असल में अपना मुर्दार आप ही खा रहा है। जानवरों की मौत उसकी अपनी मौत है, क्योंकि इस गुनाह का बदला मौत से कम हो ही नहीं सकता। बेजुबान की हत्या न करो और न अपने निरीह शिकार का मांस खाओ। इससे कहीं तुम शैतान के गुलाम न बन जाओ। यदि तुम

शाकाहारी भोजन को अपना आहार बनाओगे तो तुम्हें जीवन शक्ति मिलेगी, लेकिन तुम मृत (मांसाहार) भोजन करोगे तो वह मृत आहार तुम्हें भी मार देगा। क्योंकि जीवन से ही जीवन मिलता है, मौत से हमेशा मौत मिलती है।"

अहिंसा जैन धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है। भगवान महावीर ने विश्व को "अहिंसा परमो धर्मः" का उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि- "समस्त जीवों की रक्षा करनी चाहिए। चाहे वह जीव मनुष्य हो, वनस्पति हो, चाहे वह जल, चाहे वह थल और नभ का कोई पशु-पक्षी हो, हमें सबके प्रति अहिंसक भाव रखकर उसकी रक्षा करना चाहिए।" उन्होंने "जीओ व जीने दो" का सिद्धान्त भी दिया। महावीर के उपदेशों में शाकाहार का तात्पर्य केवल आहार नहीं है अपितु वह एक मन, वचन एवं कर्म से हिंसा से बचने का एक माध्यम भी है। सामान्यतः जैन धर्मावलम्बी मांसाहारी नहीं हैं। आधुनिकता के इस दौर में भले ही कुछ जैन इस ओर आकृष्ट हुए हैं परन्तु उनकी संख्या नगण्य है। इसका प्रमुख कारण है कि जैन धर्म पूरा अहिंसा पर आधारित है। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध ने सम्पूर्ण जीवन अहिंसा के प्रचार में व्यतीत कर दिया। मन, वचन, कर्म से प्राणी मात्र की रक्षा करना ही बुद्ध का प्रमुख उपदेश था। बुद्ध की प्रमुख शिक्षाएं थीं- "कभी भी किसी की निन्दा न करना, हिंसा न करना, संयम रखना, सात्विक भोजन करना, चित्त में योग लगाना।" बौद्ध धर्म में मांस, मदिरा का न केवल सेवन बल्कि उनके व्यापार पर भी कड़ा प्रतिबंध है। यदि इन उपदेशों के बावजूद बौद्ध धर्म को मानने वाले मांसहार करते हैं, तो उनको धर्मविरोधी ही कहा जा सकता है।

शाकाहार एवं शारीरिक संरचना-

शारीरिक संरचना की दृष्टि से शाकाहार मानव का सबसे उचित आहार है। भोजन मूलतः तीन प्रकार के होते हैं- पहला है सात्विक भोजन इसमें साग, सब्जी, फल, अनाज, मेवे, दूध एवं इससे बने पदार्थ, घी, तेल आदि को सम्मिलित किया जाता है। दूसरा है राजसिक भोजन- इसमें भोजन को चटपटा बनाने के लिए उपयोग में लाये गये तत्वों जैसे- मिर्च, मसाले आदि को सम्मिलित किया जाता है। तीसरे प्रकार का भोजन है तामसिक भोजन- इसमें मांस, मछली, अंडा, शराब आदि को सम्मिलित किया जाता है। प्रथम प्रकार का भोजन मन में प्रेम, दया, करुणा की भावना को जागृत करता है। दूसरे प्रकार का भोजन उत्तेजना पैदा करनेवाला होता है और तीसरे प्रकार का भोजन अमानवीय एवं आसुरी प्रवृति को पैदा करनेवाला होता है। यह बुद्धि को मंद कर इन्द्रियों के विकारों को बढ़ानेवाला होता है। मनुष्य की शारीरिक संरचना की दृष्टि से मनुष्य के लिये शाकाहारी भोजन ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मनुष्य के दांत,

पाचन तंत्र एवं आंतें सभी शाकाहार के अनुरूप ही होती हैं। कोई भी जीव शाकाहारी तत्व पदार्थ के बिना अपने जीवन को सुचारु रूप से जीवित नहीं रख सकता। प्रत्येक प्राणी को शाकाहारी तत्व की आवश्यकता होती है। सामान्यतः यह देखा गया है कि मांसाहारी जानवर शाकाहारी जीवों का मांस भक्षण करता है। इसका कारण यही हो सकता है कि इसके माध्यम से मांसाहारी जानवर शाकाहार के तत्वों की पूर्ति करते हैं। यह भी सत्य है कि मांसाहारी मनुष्य सदैव शाकाहारी जीवों के मांस को ही खाता है। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है जो शाकाहार की महत्ता को प्रदर्शित करता है।

शाकाहार एवं स्वास्थ्य-

शाकाहार का शाब्दिक अर्थ है-सात्विक आहार। परन्तु यदि शाकाहार का वास्तविक अर्थ लें तो शाकाहार न केवल पेट भरने की क्रिया है, बल्कि यह हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं हमारे आचरण से सम्बंधित है। शाकाहार मानव के अंदर मैत्री भावना, आत्मीयता, वात्सल्य, प्रेम व जग कल्याण की भावना जागृत करता है। यह हमारे मन-मस्तिष्क को संवेदनशील बनाता है जो विश्व-बन्धुत्व की भावना जागृत करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। अर्थात् शाकाहारी मनुष्य वह है जो आत्म केन्द्रित न होकर समस्त प्राणी जाति का उद्धारक होता है। मांसाहार से मस्तिष्क की सहनशीलता व स्थिरता का ह्रास होता है तथा उत्तेजना एवं वासना बढ़ानेवाली प्रवृति का विकास होता है। क्रूरता एवं निर्दयता बढ़ती है। क्रोध एवं उत्तेजना की वृद्धि से मनुष्य का विवेक समाप्त हो जाता है। आज सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हिंसा, घृणा का प्रमुख कारण मांसाहार का बढ़ता चलन ही है। मांसाहारी व्यक्ति जिनमें अहिंसा, दया, परोपकार जैसी भावनाओं का सर्वथा अभाव होता है, अपने तुच्छ स्वार्थ हेतु किसी भी सीमा तक गिर सकते हैं।

शाकाहारी मनुष्य मांसाहारी की अपेक्षा सामान्यतया अधिक बुद्धि सम्पन्न, ज्ञानी एवं चरित्रवान होते हैं। स्वास्थ्य, शक्ति तथा जीवन कायम रखने के लिए मांस की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती बल्कि इससे शारीरिक क्षय एवं रोगों में वृद्धि होती है। मांस में असंख्य जीवाणु होते हैं जो इसके साथ ही मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। शारीरिक वृद्धि हेतु जितने पोषक पदार्थ हमें वनस्पति द्वारा प्राप्त होते हैं, मांसाहारी पदार्थों द्वारा प्राप्त नहीं हो सकते हैं। मांस प्राप्ति के दौरान जब पशु वध किया जाता है तो मृत्यु से संघर्ष के दौरान अकथनीय भय, पीड़ा, कष्ट, क्रोध आदि के परिणामस्वरूप जो विनाशकारी तत्व पशु के भीतर समा जाते हैं वे उसके मांस का उपयोग करने वाले मानव के शरीर में भी समाविष्ट हो जाते हैं। ये विनाशकारी तत्व अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य के स्वास्थ्य एवं मन-मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं। मांसाहारी

व्यक्ति प्रायः मधुमेह, उच्च रक्तचाप, तनाव, अनिद्रा, उन्माद, लकवा आदि रोगों से ग्रस्त रहता है। अतः प्रत्येक प्राणी को प्रकृति प्रदत्त आहार शाकाहार का सेवन ही करना चाहिए जो स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन एवं आध्यात्मिक चेतना का मूल मंत्र है।

शाकाहार पर विद्वानों के विचार-

स्व. पं. मदनमोहन मालवीय जी का कथन था- "स्वास्थ्य, शक्ति तथा जीवन कायम रखने को मांस की कोई आवश्यकता नहीं, इससे तो आयु कम होती है, रोग बढ़ते हैं। मांस के स्थान पर शाक, अन्न, फल, घी, दूध का प्रयोग अधिक लाभदायक है। मैं पशु हत्या से घृणा करता हूं।" महात्मा गांधी के अनुसार- "अहिंसा का सच्चा अर्थ है कि हमें किसी को भी हानि नहीं पहुंचाना चाहिए।" महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार- "मांसाहार से मनुष्य का स्वभाव हिंसक हो जाता है। जो लोग मांस भक्षण व मद्यपान करते हैं उनके शरीर और वीर्यादि धातु भी दूषित होते हैं।" कबीर ने मुसलमान वर्ग को सम्बोधित करते हुए कहा है- "वे रोजे भी व्यर्थ और निष्फल हैं जिनको रखने वाला जिह्वा के वशीभूत होकर जीवों का घात करता है। इस प्रकार अल्लाह खुश नहीं होगा।"

आज सम्पूर्ण विश्व में मनुष्य काम, क्रोध, मोह एवं अहंकार में डूबा हुआ है। वर्तमान समय में मनुष्य का बौद्धिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण उत्थान के स्थान पर विनाशकारी अधिक प्रतीत होता है। शाकाहार मानवता एवं नैतिकता की रक्षा में सहायक सिद्ध हो सकता है। शाकाहार द्वारा ही मन पर नियंत्रण रखा जा सकता है। प्रकृति प्रदत्त अनेको पदार्थ ऐसे हैं जो हमारे शरीर के लिये आवश्यक तत्वों की पूर्ति करते हैं जिनमें शरीर के लिये आवश्यक सभी तत्व विद्यमान होते हैं। अतः जीवन को सार्थक बनाने में शाकाहार ही महत्वपूर्ण एवं आवश्यक है न कि मांसाहार। शाकाहार ही सर्वोत्तम व्यावहारिक आहार है परन्तु यदि शाकाहार भी वैज्ञानिक तरीके से सुव्यवस्थित रूप में न लिया जाये तो वह मांसाहार जैसा ही हानिकारक सिद्ध हो सकता है।

हमारे देश जहां गांधी, महावीर एवं बुद्ध जैसे अहिंसावादी महात्मा हुए हैं, वहां मांसाहार के प्रकोप का बहिष्कार करके अहिंसक बनने संकल्प लेना चाहिए एवं सुलझे हुए दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए। निम्न पंक्तियों के साथ हमें मांसाहार के विरोध में एकजुट होकर इसे समूल नष्ट करने का प्रयास करना चाहिए-

है भला तेरा इसी में, मांस खाना छोड़ दे,
इस मुबारक पेट को, कब्र बनाना छोड़ दे।

- शोध अधिकारी, त्रिलोक उच्च स्तरीय अध्ययन एवं अनुसंधान संस्थान, कोटा (राज.)

स्वास्थ्य चर्चा-

अच्छे स्वास्थ्य के लिए, ताली बजाना काफी

क्या आप किसी गंभीर बीमारी का चमत्कारी निदान ढूंढ़ रहे हैं ? रुकिए, इसके लिए किसी चिकित्सक के पास जाने या महंगी दवाएं लेना जरूरी नहीं है।

योगासन के प्रवर्तक स्वयंभू योगी का कहना है कि अच्छे स्वास्थ्य के लिए सिर्फ ताली बजाना काफी है। ताली बजाएं, अपना खून गर्म रखें और अच्छे स्वास्थ्य का लाभ उठाएं। यह संदेश है ७१ वर्षीय श्री कृष्ण चंदर बजाज का जो अपनी उम्र से काफी छोटे दिखाई देते हैं।

श्री बजाज स्वीकार करते हैं कि रोगों के निदान में ताली बजाने से होने वाले फायदे की कोई चिकित्सकीय जांच नहीं की गई है। इसके बावजूद उनकी सलाह अपनाकर शहर के कई निवासी अपने रोगों से छुटकारा पा चुके हैं। उनके अनुसार कुछ समय तक अभ्यास करने के बाद जीवन के लिए खतरा बन चुके हृदय रोग, मधुमेह, अवसाद, अस्थमा, सामान्य जुकाम, गठिया से लेकर मामूली सिरदर्द, अनिद्रा और बाल गिरने जैसी कई समस्यायें दूर हो जाती हैं। उनके प्रयासों के कारण उन्हें तथा उनकी खोज को **लिम्का बुक ऑफ रिकॉर्डस्** में स्थान मिला है। श्री बजाज बताते हैं कि लगभग एक दशक पूर्व काले मोतियाबिंद के कारण उनकी दोनों आँखों की रोशनी चली गई थी। शल्य चिकित्सा करवाने का उनमें साहस नहीं था। तभी उन्होंने एक सत्संग में सुना कि ताली बजाने से रोगों का निदान हो सकता है इसलिए श्रद्धालु कीर्तन करते समय ताली बजाते हैं। श्री बजाज कहते हैं कि इसके बाद प्रतिदिन सुबह लगभग आधा घंटा ताली बजाने से एक वर्ष के अंदर उन्हें अपनी नेत्र ज्योति वापस मिल गई। वह कहते हैं कि ताली बजाने से खून का दौरा बढ़ता है जिससे कोलस्ट्रोल के बुरे प्रभाव दूर होने के साथ शिराओं और धमनियों की सफाई होती है।

महावीर वाणी

आरोग परमालाभा संतुट्ठी परमं धनं।
विस्सास परमा ञाती निब्बाणं परमं सुखं।।

नीरोगता सबसे बड़ा लाभ है, संतुष्ट रहना परम धन है, विश्वास सर्वश्रेष्ठ बन्धु है, और निर्वाण सर्वोपरि सुख है।

कल्पप्रदीप में वर्णित कुंडुगेश्वरनाभेयदेवकल्प का समीक्षात्मक अध्ययन

- डॉ. शिवप्रसाद

श्वेताम्बर जैन परम्परानुसार उज्जयिनी नगरी में कुंडुगेश्वर नामक एक जिनालय था, जिसे अवन्तिसुकुमाल के पुत्र ने अपने पिता के मरणस्थल पर निर्मित कराया था। यह जिनालय बाद में हिन्दुओं के अधिकार में आ गया। विक्रमादित्य (संवत्सर प्रवर्तक) के शासनकाल में एक बार आचार्य सिद्धसेन दिवाकर वहां पहुंचे। घटना विशेष में उन्होंने शिवलिंग को प्रणाम किया, जिससे शिवलिंग फट गया और उसमें से तीर्थंकर की प्रतिमा प्रकट हुई और यह तीर्थ पुनः जैनों के अधिकार में आ गया। आचार्य जिनप्रभसूरि ने अपनी अमरकृति **कल्पप्रदीप** अपरनाम **विविधतीर्थकल्प** के **"कुंडुगेश्वरनाभेयदेवकल्प"** (रचनाकाल वि.सं. १३८९) में इस स्थान से सम्बद्ध जैन मान्यताओं का विवरण प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है-

"लाट देश में भृगुकच्छ नामक एक नगरी थी, वहां स्थित सुप्रसिद्ध शकुनिका विहार में वृद्धिवादीसूरि नामक एक जैनाचार्य निवास करते थे। एक बार दक्षिण देश से आये हुए कर्णाटभट्ट दिवाकर नामक विद्वान को उन्होंने शास्त्रार्थ में पराजित कर उन्हें अपना शिष्य बनाया, जो सिद्धसेन दिवाकर के नाम से प्रसिद्ध हुए। एक बार उन्होंने अपने गुरु से आगमों को संस्कृत भाषा में अनुवादित करने की अनुमति मांगी, जिससे उनके गुरु ने उन्हें उपालम्भ दिया और उन्हें दण्डस्वरूप १२ वर्ष तक अवधूत के वेष में विचरण करने का विधान किया। अपने प्रायश्चित के १२वें वर्ष में वे विचरण करते हुए उज्जयिनी स्थित महाकाल मंदिर में पहुंचे, जहाँ लोगों के आग्रह करने पर भी उन्होंने शिवलिंग को प्रणाम नहीं किया। जब विक्रमादित्य को यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने स्वयं आकर सिद्धसेन दिवाकर से वही निवेदन किया, जिस पर उन्होंने शिवलिंग के खंडित हो जाने की बात कही। परन्तु राजा के आग्रह पर उन्होंने **द्वात्रिंशिकाओं** का पाठ किया जिससे शिवलिंग फट गया और उसमें से आदिनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई। यह देखकर राजा अत्यन्त चमत्कृत हुआ और मुनि ने उसे धर्मलाभ दिया। राजा ने प्रसन्न होकर मुनि को १ करोड़ दिया तथा मंदिर को अनेक ग्रामादि दान में दिया और संवत् १ चैत्र सुदि १ गुरुवार को इस आशय से युक्त एक शासनपट्टिका भी श्वेताम्बरोपासक ब्राह्मण गौतम के पुत्र कात्यायन से लिखवायी। सभी जटाधारी दार्शनिकों को जैन बनाया और सम्पूर्ण पृथ्वी पर जैन धर्म का प्रचार किया।

मुनि ने प्रसन्न होकर भविष्यवाणी की कि विक्रमादित्य से ११९९ वर्ष पश्चात् कुमारपाल नामक एक अत्यन्त प्रतापी नरेश होगा।"

जिनप्रभसूरि द्वारा उल्लिखित सिद्धसेन दिवाकर और विक्रमादित्य (संवत्सर प्रवर्तक ?) सम्बन्धी कथा हमें निम्नलिखित जैन ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है-

१. **प्रभावकचरित** -प्रभाचन्द्राचार्य (रचनाकाल- ई. सन् १२७८)

२. **प्रबन्धचिन्तामणि** - मेरुत्तुंगसूरि (रचनालाल-ई.सन् १३०५)

३. **पुरातनप्रबन्धसंग्रह** - रचनाकार-अज्ञात (रचनाकाल-ई. १५वीं शती)

४. **कहावली** -भद्रेश्वरसूरि (रचनाकाल-ई. सन् १२३५ के पूर्व)

५. **प्रबन्धकोश** -राजशेखरसूरि (रचनाकाल-ई. सन् १३५१)

६. **सम्यकत्त्वसप्तशतीटीका** -संघतिलकसूरि (रचनाकाल-ई. सन् १३६६)

७. **विक्रमचरित-** शुभशीलगणि (रचनाकाल-ई. सन् १४३४ या १४४३)

जिनप्रभसूरि ने सिद्धसेन दिवाकर और विक्रमादित्य के परस्पर भेंट होने का स्थान कुंडुगेश्वर का मंदिर बतलाया है। यही बात भद्रेश्वरसूरि और प्रभाचन्द्रसूरि ने भी कही है।

इसके विपरीत **प्रबन्धकोश, कल्याणमंदिरस्तोत्रटीका, सम्यकत्त्वसप्तशतीटीका, विक्रमचरित** आदि के अनुसार वह स्थान महाकाल मंदिर था जब कि **प्रबन्धचिन्तामणि** और **पुरातनप्रबंधसंग्रह** के अनुसर वह गूढमहाकाल का मंदिर था। इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त मंदिर के तीन नाम मिलते हैं -

१. कुंडुगेश्वर का मंदिर,

२. महाकाल मंदिर और

३. गूढ़महाकाल मंदिर

विक्रमादित्य के आग्रह पर सिद्धसेन ने पाठ किया, यह पाठ कौन सा था? इस प्रश्न पर भी जैन ग्रन्थकारों में मतभेद है। **कल्याणमंदिरस्तोत्रटीका** के अनुसार **'कल्याणमंदिर स्तोत्र'** के पाठ से लिंग फट गया और पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई। इसके विपरीत **कल्पप्रदीप, कहावली, प्रबन्धचिन्तामणि, पुरातनप्रबंधसंग्रह** और **सम्यकत्त्वसप्तशतीटीका** के अनुसार सिद्धसेन ने **द्वात्रिंशिकाओं** का पाठ किया। **प्रभावकचरित्र, प्रबन्धकोश, विक्रमचरित** और **उपदेशप्रासाद** के अनुसार सिद्धसेन ने **'कल्याणमंदिरस्तोत्र'** और **'द्वात्रिंशिकाओं'** दोनों का पाठ किया जिसके उपरान्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई। **कल्पप्रदीप** अपरनाम **विविधतीर्थकल्प** में आदिनाथ की प्रतिमा के प्रकट होने का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः यह कथन संपादक की

भूल है और मूल कथा में पार्श्वनाथ की प्रतिमा का प्रादुर्भाव कथित हुआ होगा, क्योंकि पार्श्वनाथ के नामान्तर 'वामासूनु' 'वामेय' इत्यादि जिनप्रभसूरि से आधारभूत मूलग्रन्थ की आदर्श प्रति में प्रतिलिपिकार (लोहिया) की भूल से 'नाभिसूनु' 'नाभेय' आदि में परिवर्तित किये गये और इस भूल के परिणामस्वरूप शेष परिवर्तन पिछली (उत्तरकालीन) प्रतियों में क्रमशः आ गये होंगे। दूसरे **कल्पप्रदीप** की (अ) प्रति में दी गयी तीर्थों की अनुक्रमणिका (पृ. १११) में प्रस्तुत तीर्थकल्प (न. ४७) का नाम **'कुंडुगेश्वर नाभेयदेवकल्प'** के स्थान पर **'श्रीकुंडुगेश्वर पार्श्व'** ही लिखा है। इसके अतिरिक्त **"चतुर्शीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प"** में प्रथम तीर्थंकर के तीर्थस्थानों की नामावली में न तो कुंडुगेश्वर का उल्लेख है और न उज्जयिनी की ही चर्चा है, जबकि पार्श्वनाथ से सम्बद्ध तीर्थसूची में महाकालान्तर पातालचक्रवर्ती ऐसा नाम पाया जाता है। इससे भी उक्त अनुमान का समर्थन होता है। अतः यह स्पष्ट है कि उक्त बिम्ब पार्श्वनाथ का ही था।

जिनप्रभसूरि ने विक्रमादित्य द्वारा सिद्धसेन को दिये गये दान का जो विवरण दिया है, उसकी समीक्षा इस प्रकार है-

"ततश्च गोहृदमण्डले च सांवद्रा प्रभृति ग्रामाणामेकनवतिं, चित्रकूटमण्डले वसाडप्रभृतिग्रामाणां चतुरशीतिं तथ घुंटारसी प्रभृतिग्रामाणां चतुर्विंशति, मोहडवासकमण्डले ईसारोडाप्रभृतिग्रामाणा षटपंचाशतं श्रीकुण्डुगेश्वर ऋषभदेवाय शासनेन स्वनिः श्रेयसार्थमदत्। ततः शासनपट्टिकां श्रीमडज्जयिन्यां, संवत् १, चैत्र सुदि १, गुरौ भाटदेशीय महाक्षपटलिक परमार्हश्वेताम्बरोपासक ब्राह्मण गौतमसुतकात्यायनेन राजालेखयत्।"

(**कल्पप्रदीप** अपरनाम **विविधतीर्थकल्प**, संपा. मुनि जिनविजय, पृ. ८९)

अर्थात् तत्पश्चात् (राजा ने) अपने आत्मकल्याण के लिये कुंडुगेश्वर ऋषभदेव को शासन द्वारा गोहृद मंडल में सांवद्रा आदि ९१ ग्राम, चित्रकूट मंडल में बसाढ़ आदि ८४ ग्राम तथा घुंटारसी आदि में २४ ग्राम और मोहडवासक मंडल में ईसारोडा आदि ५६ ग्राम भेंट किये। इसके बाद राजा ने एक शासनपट्टिका उज्जयिनी नगरी में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा संवत् १ गुरुवार को भाट देश के निवासी महाअक्षपटलिक, श्वेताम्बर मतावलम्बी परमश्रावक ब्राह्मण गौतम के पुत्र कात्यायन द्वारा लिखवाया।

उक्त स्थानों में से चित्रकूट, गोहृद और भाटदेश की पहचान की गयी है। चित्रकूट को वर्तमान चित्तौड़ से और गोहृद को गोधरा से क्राउझे ने समीकृत किया है तथा भाटदेश को जैसलमेर के आस-पास का प्रदेश माना है। शेष नामों के सम्बन्ध में शोध की आवश्यकता पर उन्होंने बल दिया है।

जिनप्रभसूरि के अनुसार संवत्सर प्रवर्तक विक्रमादित्य ने सिद्धसेन दिवाकर द्वारा प्रतिबोधित होकर अपने निजी संवत् १ की चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को जैन धर्म अंगीकार किया और कुंडुगेश्वर नाभेयदेव को उक्त ग्रामों को समर्पित किया।

जहां तक समय निर्देश का प्रश्न है, ग्रन्थकार द्वारा उल्लिखित तिथि विक्रम संवत् १ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा है। ज्योतिष शास्त्रानुसार गणना द्वारा पता लगाया गया है कि वि.सं. १ (५६ ई. पूर्व) की चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को गुरुवार अथवा शुक्रवार हो सकता है, यदि संवत् का प्रारंभ कार्तिक से माना जाये। इस रीति से विक्रम संवत् का प्रारंभ कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से गिनना जैन प्रणाली के अनुकूल है। अतः जिनप्रभसूरि द्वारा उल्लिखित समयनिर्देश अबाधित है। परन्तु कुछ अन्य बातों के कारण इस विवरण की प्रामाणिकता में शंका उत्पन्न होती है- जैसे चित्रकूट मंडल का उल्लेख। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चित्रकूट आज का चित्तौड़ माना जा सकता है, इसे वि.सं. ६०६ में चित्रांगद शोरिया ने बसाया था। उसी के नाम पर इसे चित्रकूट कहा जाने लगा। इस आधार पर चित्रकूट का वि.सं. १ में होना असंभव है। सन्देह का दूसरा कारण है श्वेताम्बर शब्द। चूंकि निर्ग्रन्थ श्रमण संघ का विभाजन वीर निर्वाण संवत् ६०६ की घटना है, इसी विभाजन से श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय अस्तित्व में आये, अतः वि.सं. १ में श्वेताम्बरों का होना असंभव है। सबसे ज्यादा आपत्ति तो है सिद्धसेन दिवाकर और विक्रमादित्य (संवत्सर प्रवर्तक) का समकालीन होना, जो पं. सुखलालजी और पं. बेचरदासजी की दृष्टि में संदिग्ध ही नहीं अपितु असंभव है। इन्होंने सिद्धसेन दिवाकर को गुप्तकालीन माना है और कहा है कि सिद्धसेन ने यदि विक्रमादित्य की उपाधि से विभूषित किसी नरेश को प्रतिबोधित किया है, तो गुप्तवंश का ही कोई सम्राट हो सकता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि **कल्पप्रदीप** के उक्त विवरण, जो इतनी शंकाओं से युक्त है, में कितना ऐतिहासिक तथ्य विद्यमान है? इसके बाद भी ग्रन्थकार का यह कथन-

> कुंडुगेश्वर नाभेयदेवस्यानल्पतेजसः।
> कल्पं जल्पामि लेखेन दृष्ट्वा शासनपट्टिकाम्।।

अर्थात् "शासनपट्टिका देखकर मैं महान् तेजस्वी कुंडुगेश्वर के कल्प को संक्षेप में कहूंगा" ये कथन उस महान् जैनाचार्य के हैं जिन्होंने सुल्तान मुहम्मद तुगलक को भी जैन धर्म का हितैषी बनाया था। ऐसे महापुरुष की बात पर संदेह कैसे किया जा सकता है ? हमें यह तो मानना ही चाहिये कि उन्होंने एक शासनपट्टिका (चाहे वह शिलालेख हो या ताम्रपत्र) अवश्य देखी थी, परन्तु उन्होंने इसके सम्बन्ध में शब्दों की स्मृति से लिखा और वृद्धपरम्पराओं के मौखिक स्मरणों के आधार पर उसे आगे भी बढ़ाया। इससे यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने प्रस्तुत तीर्थ को प्राचीन इतिहास की एक आदरणीय

वस्तु समझकर उसकी तत्कालीन ऐतिहासिकता का प्रश्न छोड़ कर उसके सम्बन्ध में प्रचलित किंवदन्तियों के संग्रह के रूप में ही यह विवरण प्रस्तुत किया है। यह भी संभव है कि जिस शासनपट्टिका को उन्होंने देखा वह विक्रमादित्य के उल्लेखों से अंकित बाद के काल में लिखी गयी एक जाली शासनपट्टिका रही होगी, क्योंकि कुछ जाली शासनपट्टिकायें भी कभी-कभी हस्तगत हो जाती हैं। फिर भी यह निर्विवाद है कि जिस कुंडुगेश्वर देव का आलम्बन कर ऐसे आशय की एक जाली शासनपट्टिका बनायी जा सकी और जिसके सम्बन्ध में वृद्ध परम्परा के ऐसे संस्मरण प्रचलित हो सके, उस कुंडुगेश्वर देव का नाम किसी समय में एक प्रसिद्ध वस्तु और उनका मंदिर एक अत्यन्त महिम्न तीर्थस्थान अवश्य था। इस बात का समर्थन **प्रबन्धचिन्तामणि** के अन्तर्गत उल्लिखित -**'कुमारपाल प्रबंध'** के एक वृतान्त से भी होता है, जिसके अनुसार गुजरात के भावी सम्राट कुमारपाल वर्तमान सम्राट जयसिंह सिद्धराज के भय से भागते-भागते मालव देश में स्थित कुंडुगेश्वर के मंदिर में आते हैं और यहां रखी हुई शासनपट्टिका में इस आशय का पद्य पढ़ते हैं कि "विक्रम से ११९९ वर्ष पश्चात् स्वयं कुमारपाल ही विक्रम के सदृश एक राजा होंगे।" यह विवरण अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है।

पुरातनप्रबंधसंग्रह में भी कुमारपाल का उक्त वृतान्त पाया जाता है, परन्तु वहां कुडुंगेश्वर के स्थान पर कुण्डिगेश्वर शब्द लिखा है।

प्राचीन उज्जयिनी में जैनधर्म का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा। राजा सम्प्रति ने यहीं से जैनधर्म का प्रचार किया था। कालकाचार्य द्वारा प्रतिबोधित शक नरेशों ने भी उज्जयिनी को ही अपनी राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित किया था। सम्प्रति के समय यहां जीवन्त स्वामी के एक मंदिर का भी उल्लेख मिलता है, जिसके दर्शनार्थ आर्य सुहस्ति यहां पधारे थे। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि प्राचीन उज्जयिनी में जैन धर्म का स्थान इतना ऊंचा था कि उससे भी महाकालेश्वर मंदिर की उत्पत्ति की उपर्युक्त कल्पना को इतने शताब्दियों पर्यन्त प्रचलित रहने की शक्ति प्राप्त हो सकी।

इस प्रकार उज्जयिनी में शैव धर्म और जैन धर्म की प्रतिस्पर्धा की बात स्पष्ट है, परन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि किसी तीर्थ विशेष के विवाद में कौन सी परम्परा प्राचीन है और कौन सी अपेक्षाकृत उत्तरकालीन है। यह उल्लेखनीय है कि विवाद सम्बन्धी जैन कथाओं का इतिहास गुप्तकाल से प्राचीन सिद्ध नहीं होता और उस समय तक उज्जयिनी शैवधर्म के प्रमुख केन्द्र के रूप में विख्यात हो चुकी थी।

- **प्रवक्ता- पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी**

जर्मन विदुषी डॉ. शार्लोटे क्राउजे की नज़रों में जैन समाज की वर्तमान स्थिति

- श्री मांगीलाल भूतोड़िया

सन् १९२५ में जैन दर्शन एवं साहित्य से प्रभावित होकर एक जर्मन महिला डॉ. शार्लोटे क्राउजे भारत आईं। उनका जन्म जर्मनी के हाले शहर में सन् १८९५ में हुआ। उनके पिता व्यापारी थे। तरुणी शार्लोटे क्राउजे ने लीपजिग युनिवर्सिटी के विश्वविख्यात आचार्य एवं भारत-विद्याविद् (Indologist) डॉ. जोहानीज हर्टेल के निर्देशन में सन् १९२० में "नंसिकेतरी कथा" प्राचीन जैन उपाख्यान पर शोध कर पीएच.डी. की डिग्री हासिल की। भारत पदार्पण के साथ ही वह प्राचीन जैन वाङ्मय की शोध को ऐसी समर्पित हुईं कि ता उम्र न तो उन्होंने विवाह किया, न ही जर्मनी लौटीं। यहीं रहकर उन्होंने अनेक प्राचीन जैन ग्रंथों का सम्पादन किया। उन्होंने जैन शास्त्रों एवं साहित्य पर अनेक टीकाएं और शोध प्रबंध लिखे जो जर्मन, अंग्रेजी, गुजराती एवं हिन्दी भाषाओं में सन् १९२२ से १९५५ तक प्रकाशित होते रहे।

उनके शोध प्रबंधों को हेमवर्ग के डॉ. लुटविग एल्स डोर्फ, बोन के डॉ. हरमन जेकोबी, अमरीका के डॉ. फ्रेंकलिन एडगर्दन, जर्मनी के डॉ. वाल्टर शुब्रिंग एवं नार्वे, स्वीडन, रूस, चेकोस्लवाकिया, फ्रांस, इग्लैंड के विद्वत् समाज ने एक स्वर से सराहा। उन्होंने सन् १९२५ में जैनाचार्य विजयेन्द्र सूरि जी से श्रावक दीक्षा ग्रहण की एवं ता उम्र ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार किया। जैन संस्कृति के प्रति प्रगाढ़ प्रेम से प्रेरित होकर वह जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में ऐसी लगीं कि अपना वैयक्तिक सुख-दुख सब कुछ न्योछावर कर दिया। भारत के सुदूर अंचलों में स्थित प्राचीन तीर्थों की यात्रा की। प्रायः सभी जैन सम्प्रदायों की मान्यताओं का बारीकी से अध्ययन किया एवं शोधार्थ ग्रंथागारों का अवगाहन किया। वे रुग्ण रहने लगी थीं। उन्होंने जैन समाज के कर्णधारों से अनुनय विनय की ताकि असहायावस्था में उनकी सुचारु देखभाल का प्रबंध हो सके। परन्तु कृतघ्नी एवं अर्थलोलुप समाज के कानों पर जूं तक नहीं रेंगी। समाज की इस उदासीनता से निराश होकर वह ग्वालियर के कैथोलिक चर्च में सन् १९६२ में कैथोलिक धर्म में फिर से दीक्षित हुईं। कैथोलिक धर्मावलम्बियों ने ही अंतिम समय तक

उनकी सेवा सुश्रुषा की। वह सन् १९८० में ग्वालियर में दिवंगत हुईं और इस तरह अहसान फ़रामोशी की इस अधर्म कथा का अंत हुआ।

"जैन शलाका पुरुष" ग्रंथ के लेखन के सिलसिले में जैन धर्म के बीसवीं शदी के प्रभावक चरित्र नायकों का चयन करते हुए डॉ. शार्लोटे क्राउजे के जीवन प्रसंग उजागर हुए। मैं सोच रहा था-आखिर क्या कारण थे जिनकी वजह से संपूर्ण जैन समाज उनसे विमुख हो गया। माना कि यह एक अर्थ-प्रधान वणिक समाज है जिसका धार्मिक क्रियाकलाप धर्माचार्यों को अपने पैसे के बल पर खरीदकर यश अर्जित करने तक सीमित है या फिर कोई भी स्मगलिंग या सट्टे का नया व्यापार 'नमोकार मंत्र' के जप से शुरू करने में धर्म की इतिश्री मानता है या जैन दर्शन के अपरिग्रह सिद्धांत की आड़ में जैनाचार्य गृहस्थों को सम्प्रदायलाभोन्मुखी विसर्जन के लिए उकसाते हैं एवं गृहस्थ लाखों करोड़ों रुपये जैन आचार्यों एवं साधुओं के आवागमन संसाधनों एवं चातुर्मासों पर खर्च कर मोक्ष का सर्टिफिकेट हथियाते हैं। फिर भी एक संभ्रांत विदेशी जैन धर्मावलंबी महिला से ऐसी भी क्या नाराजगी कि रुग्ण एवं वृद्धावस्था में भी उसकी सुध न लें। तभी डॉ. शार्लोटे क्राउजे का एक प्रकाशित प्रबंध मेरे ध्यान में आया जिसमें उन्होंने जैन समाज में फैली रूढ़ियों और कमजोरियों का विश्लेषण किया था एवं उनके स्वार्थपरक व्यवहार की बेबाक आलोचना की थी।

अंग्रेजी भाषा का यह आलेख सन् १९३० में कलकत्ता युनिवर्सिटी की शोध पत्रिका 'कलकत्ता रिव्यू, (Calcutta Review) में "The Social Atmosphere of Present Jainism" शीर्षक से छपा था। पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी ने डॉ. शार्लोटे क्राउजे एवं उनके साहित्य पर सन् १९९९ ई. में प्रो. सागरमल जैन के सम्पादकत्व में जो ग्रंथ प्रकाशित किया है उसमें भी यह आलेख संग्रहीत है। इसका हिन्दी रूपान्तर 'अनेकांत' के वर्ष १, किरण ८, ९, १० अंकों में प्रकाशित हुआ था।

डॉ. शार्लोटे क्राउजे का यह आलेख जैन धर्म के प्रति उनके प्रेम एवं सदाशयता से परिपूर्ण है। उन्होंने आलेख की प्रस्तावना में भारत के दक्षिणी प्रदेशों में सदियों से आवासित सरल एवं मेधावी द्रविड़ों के जैन संस्कारों एवं आचरणों की हृदय से सराहना की है। जैन शास्त्रों में विक्रम संवत् से २०० वर्ष पूर्व जैन आचार्यों के चतुर्विध संघ सहित बारह वर्षीय अकाल की विभीषिका से त्रस्त उत्तरी भारत से दक्षिण की ओर प्रयाण के उल्लेख मिलते हैं। कभी ये दक्षिणवासी जैन धर्मावलंबी ही थे। शुरु में आदि शंकराचार्य एवं बाद में वल्लभाचार्य के प्रभाव में राजकीय दवाब से त्रस्त कहने

को ये हिन्दू भले ही कहलाने लगे पर उनके व्यवहार एवं क्रिया कलापों में जैन दर्शन का प्रभाव साफ परिलक्षित होता रहा। हालांकि किसी भी जैन सम्प्रदाय से उनका किंचित् भी सरोकार अब नहीं है पर जैन धर्म उनके लिए सच्चे तत्वज्ञान की कुंजी है एवं अहिंसा, अपरिग्रह, शाकाहार की अवधारणाएं उनकी चेतना में समाहित हैं। यह बोध आनुवंशिक रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होता रहा है। वर्तमान धर्म पालना भी इसमें कभी बाधक नहीं बनी। जन्मना या अनुयायी रूप से जैन न होते हुए भी समूचे दक्षिण में, चाहे वे तमिल भाषी हों, या कन्नड़ी, मलयालम या तेलुगु भाषी, ये सैद्धांतिक अवधारणाएं एक श्रृंखला में उन्हें जोड़े हुए हैं मानो वे धर्म-भाई हों। जाति अपेक्षा से भी आपस में ऊंचे या नीचे का कोई भेद-भाव नहीं। उनमें एक अभूतपूर्व आपसी भाईचारा एवं रोटी-बेटी व्यवहार अब भी प्रचलित है। इन विशुद्ध हृदय जैनों के खाने पीने के संस्कार भी अहिंसा से प्रेरित हैं। हां, उनकी मान्यता तो दिगम्बर जैन दर्शन के अधिक अनुरूप है, क्योंकि वे जिस समय की परम्परा के वाहक हैं उस समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय का जन्म भी नहीं हुआ था। अवश्य ही उन्नीसवीं एवं बीसवीं सदी में दक्षिण में प्रवासित उत्तर भारत के विभिन्न जैन सम्प्रदाय धर्मावलंबी जैनियों से ये सर्वथा भिन्न हैं। ये सद्य प्रवासित विभिन्न सम्प्रदायावलम्बी जैन सदा ही एक दूसरे की टांग खींचने एवं अपना-अपना प्रचार करने में सलंग्न रहते हैं- गृहस्थ भी और साधु भी। ये लोग 'जन्मना जैन' होने को भी व्यक्तिगत या सम्प्रदायगत स्वार्थ साधन के हथियार रूप में इस्तेमाल करते हैं।

वर्तमान जैन समाज के अंतर्विरोधों की बखिया खोलते हुए डॉ. शार्लोटे कहती हैं, "यह कैसी विडंबना है कि आत्मजयी जिनों का जो धर्म सार्वभौम सद्भाव का पाठ पढ़ाता है, वही जाति-आश्रयित होकर मात्र वणिक वर्ग तक सीमित हो गया है। जाति और धर्म के इस अश्रद्धेय व अभंग अन्योन्याश्रित संबंध ने दोनों को ही विग्रह के कगार की ओर ढकेल दिया। उत्तरी भारत का यह जैन समुदाय मुख्यतः मिश्र-आर्यन नस्ल के वैश्य वर्ण का ही एक भाग है। कभी गुजरात, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र एवं राजस्थान के सुदूर प्रदेशों में बसे मोढ़ एवं नागर जाति के ब्राह्मण एवं बनिया सभी जैन धर्मावलंबी थे। वे सभी सोलहवीं/सत्रहवीं शताब्दी में वल्लभाचार्य एवं राज्याश्रय के प्रभाव में वैष्णव बन गए। भगवान महावीर के ग्यारह गणधर/शिष्य सभी ब्राह्मण थे। परवर्ती काल में अनेक जैनाचार्य ब्राह्मण वर्ण से ही थे। किंतु इतिहास गवाह है यह क्रम ऐसा टूटा कि ब्राह्मण और जैन एकदम विपरीत ध्रुवों पर स्थापित हो रहे।

अलबत्ता आर्यों का क्षत्रिय वर्ण धर्म रूपांतरण से अवश्य जैन जातियों में परिवर्तित होता रहा। परंतु इसका मूल कारण रणक्षेत्र की त्रासदी के विपरीत सामान्य नागरिक संहिता एवं खेती या व्यापार का शांतिपूर्ण जीवन रहा। सदियों से जैन धर्म बनिया जाति के ही मात्र ओसवाल, श्रीमाल, पोरवाल घटकों की ही बपौती रहा है। ऐसा क्यों हुआ?"

डॉ. शार्लोटे जैन धर्मावलम्बियों की निरंतर घटती संख्या का विश्लेषण करते हुए इसका मूल कारण मानती हैं धार्मिक संगठन के विग्रह को। भगवान महावीर के निर्वाण के ६०० वर्ष बाद ही सन् ८२ ई. के आसपास उनके अनुयायी दो खण्डों में विभक्त हो गए : दिगंबर और श्वेताम्बर। धीरे-धीरे उनमें भी मतांतर होता ही चला गया। मूर्ति पूजकों एवं अमूर्ति-पूजकों के खेमे ऐसे गड़े एवं आपसी मतभेद ऐसे बढ़े कि श्वेतांबरों में वृंहदगच्छ, चैत्यवासी, अंचलगच्छ, खरतरगच्छ, तपागच्छ, स्थानकवासी, तेरापंथी आदि विभेद हुए एवं दिगम्बरों में मूल संघ, काष्ठा संघ, माथुर संघ, तेरहपंथी, गुमानपंथी, बीसपंथी, तोतापंथी संप्रदाय बने। ये विभेद आचार्यों एवं साधुओं की परस्पर असहिष्णुता, अहमन्यता, अनास्था एवं शिथिलता के परिचायक थे। इस निरंतर बढ़ते विग्रह के कारण जैनों के प्रति साधारण जन मानस की अन्यमनस्कता एवं अनास्था बढ़ी।

डॉ. शार्लोटे ने धर्म और जाति की परस्पर आश्रयता को भी इस विघटन का बड़ा कारण माना है। धर्म वैयक्तिक साधना का विषय है भले ही वह साधुगत हो या श्रावकगत। जैन धर्म मूलतः सत्योन्मुखी महाव्रतों पर आधारित है जो "संसार से अपूठा" यानी वैराग्य मूलक है। इन्हीं महाव्रतों के कर्णधार साधु और आचार्य यदि जातिगत श्रेष्ठियों एवं उनके द्वारा उपार्जित संसाधनों के आश्रित या अधीन हो जायें तो धर्म साधना की नींव ही हिल न जाएगी।

डॉ. शार्लोटे ने बड़ी बारीकी से इस विग्रह की समीक्षा की है। जैन जातियों की इस फिरकापरस्ती के कारण उनमें अपनी-अपनी मान्यताओं के प्रति कट्टरता बढ़ी। साथ ही अनुयायी गृहस्थ घटकों पर उनकी आश्रयिता बढ़ी। इसी के फलस्वरूप जातीय समूहों पर धन्नासेठों का शिकंजा कसा, ये समूह शनैः शनैः सीमित होते गए। एक समय ऐसा आया जब समाज व धर्म के ठेकेदारों ने अपनी व्याख्याओं, नियमों और आदेशों को चुनौती देने वालों को धर्म व जाति से बहिष्कृत कर दिया। जैन जातियों का उन्नीसवीं सदी में विदेश गमन को लेकर उभरा देशी-विलायती विवाद, जिसने समाज की जड़ें हिला दी थीं, इसी कट्टरता की फलश्रुति था।

डॉ. शार्लोटे क्राउजे के अनुसार जैन समाज में धर्म को रूढ़िगत परम्पराओं के पालन तक सीमित कर दिया गया है। साधारण जन शास्त्रगत सिद्धान्त (थोकड़े), प्रार्थनाएं (ढ़ार्लें), स्तवन (ऋचाएं) रट-रट कर टेप रिकार्डर की मानिन्द उच्चारित करने को ही धर्म-ज्ञान की इतिश्री माने हुए हैं। कोई इन का हार्द्र तो दूर, शाब्दिक अर्थ भी जानने की कोशिश नहीं करता। उनके पूजा विधान मात्र औपचारिक रह गये। दौड़ते-भागते वे किसी तरह उन्हें सम्पूर्ण कर अपने-अपने धन्धे लगते हैं। उनके दैनन्दिन क्रिया कलापों में कहीं भी उनकी छाया तक दृष्टिगोचर नहीं होती। सद्गृहस्थों का ही नहीं, यही हाल साधु संस्थान का भी है। एक धनी जैन श्रेष्ठी का धर्म प्रेम लाखों करोड़ों रुपये पूजा, अर्चना, भवन-प्रसाद, चातुर्मास एवं तीर्थों के लिए संघ सभायोजन कर प्रशस्ति पाने एवं संघपति या अन्यान्य उपाधियां हासिल करने तक ही सीमित है। अब भी वे शिक्षा और स्वास्थ्य को जीवनोन्मेष का हेतु नहीं मानते। आत्मिक साधना उनसे क्या, जैन साधुओं से भी कोसों दूर है। साधु भी पूरा समय इस तथाकथित धर्म-प्रचार-प्रसार हेतु जोड़-तोड़ बैठाने में ही बिता देते हैं। यदि भूल से कोई शिक्षा-केन्द्र खुलता भी है तो वहां मीलों पसरे परिसर में पढ़कर डिग्री हासिल करनेवालों में जैनेतर लोग ही अधिक होंगे क्योंकि जैन श्रेष्ठियों के बच्चे उस धर्म-शिक्षा-परिसर में क्यों आने लगे, उन्हें मसें भींगते ही वंशानुगत अर्थोपार्जन में लगा दिया जाता है और पढ़े भी तो उसका हेतु आत्मिक विकास कभी नहीं होता, उद्देश्य तो अर्थोपार्जन ही रहता है।

अनेक ओसवाल श्रेष्ठि राज्याश्रय में ऊंचे-ऊंचे पदों पर कार्यरत थे। ऐसा भी हुआ कि उक्त जातिगत कदाग्रह से तंग आकर उन्होंने राजा के ही जैनेतर धर्म को अपना धर्म बना लिया। उदयपुर, जोधपुर आदि देशी रियासतों में अनेकानेक परिवार जो कभी कट्टर जैन थे सतरहवीं से उन्नीसवीं सदी के बीच वैष्णव धर्म अंगीकार कर अपने मूल स्रोत से विलग हो गए।

ऐसे भी जैन परिवार थे जो जातिगत निषेधों एवं बहिष्कार के शिकार होते हुए भी वैष्णवों की अनेकानेक सर्वथा विपरीत मान्यताएं स्वीकार करने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहे थे। वे समकालीन सुधारवादी आन्दोलनों से जुड़कर आर्यसमाजी हो गए। हर शहर में ऐसे अनेक उदाहरण मिल जायेंगे। विडम्बना तो यह रही कि जैनों का साधु समाज और अनुयायियों का गृहस्थ समाज दोनों ही अपनी घटती हुई जनसंख्या के प्रति लापरवाह रहे। उन्होंने इस विग्रह के कारणों की कभी समीक्षा नहीं की। दोनों

ही ऊपर से जैन धर्म का लबादा ओढ़े हैं, परन्तु जैन आदर्शों से कोसों दूर हैं। लाखों-करोड़ों रुपए प्रचार पर खर्च करके भी वे अन्य लोगों को जैन नहीं बना सके। वे पाश्चात्य देशों में जैन साहित्य एवं श्रमण भेजकर अपेक्षा रखते हैं कि वे ही उन जैन सिद्धांतों को अपनाकर विश्व की समस्याएं हल करें। हालांकि स्वयं अपनी समस्याओं का हल निकालने में ये अक्षम हैं। अन्तरिक्ष, पावापुरी, राजगृह, केसरियाजी, सम्मेदशिखरजी, मक्सी आदि तीर्थों में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय वर्षों से आपस में झगड़ रहे हैं। इस निष्प्रयोजन कलह में लाखों-करोड़ों रुपए व्यय हो चुके हैं। अन्य सम्प्रदाय की तत्व संबंधी महत्वहीन भिन्नताओं के लिए एक दूसरे की टांग खींचने में लगे हैं। और इसे हवा देते हैं अन्ध श्रद्धालु भक्त और प्रशस्ति पिपासु धन्ना सेठ।

डॉ. शार्लोटे जैन समाज की इस स्थिति से दुखित थी। उन्होंने सुधारक वर्ग के सोच की सराहना भी की, परन्तु यह वर्ग भी वांछित साहस के अभाव में कोई बदलाव लाने में असमर्थ था। लेख के अंत में उन्होंने अपने मन की भावना व्यक्त की कि ऐसा समय कब आएगा जब समस्त जैन समुदाय इन विकारग्रस्त क्रियाकलापों से मुक्त, अंधश्रद्धा और संकुचित मनोवृत्तियों से ऊपर उठकर जिनेन्द्र उपदिष्ट प्राचीनतम धर्म का अनुगमन कर आत्मकल्याण करेगा।

हम लोग कहलाने को जैन कहलाते हैं पर इस विदुषी जर्मन महिला के जैन धर्म के प्रति प्रेम एवं समाज की वर्तमान स्थिति के प्रति दर्द को समझें, यहीं अभीप्सा है।

- ७, ओल्ड पोस्ट आफिस स्ट्रीट, कोलकाता- ७००००१

सूचना

पहली जुलाई से प्रारंभ हो रहे दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी के **पत्राचार प्राकृत सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम** में प्रवेश के लिये प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी एवं अन्य भाषाओं/ विषयों के प्राध्यापकों, अपभ्रंश-प्राकृत के शोधार्थियों एवं संस्थानों में कार्यरत विद्वानों से **१५ मई, २००४ तक** आवेदन पत्र आमंत्रित हैं। नियमावली एवं आवेदनपत्र अकादमी कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियां भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर ३०२००४ से **२५ मार्च से १५ अप्रैल तक** प्राप्त किये जा सकते हैं।

मैं चेतन हूँ, छल सकता है मुझको जीवन व्यापार नहीं

मैं जीवन पथ का अमर पथिक, रोका जग ने मैं रुक न सका,
आंधी पानी तूफानों में भी, अडिग रहा मैं झुक न सका,
निज पथ पर चलता रहा सतत, टूटा जीवन का तार नहीं।
मैं चेतन हूँ, छल सकता है मुझको जीवन व्यापार नहीं।।१।।

कितने मादक सुख जीवन में, आये आकर वे चले गये,
दुख भी प्रहार करके जी भर, थक-थक कर अपनी राह गये,
भय और प्रलोभन भी आये, पर मानी मैंने हार नहीं।
मैं चेतन हूँ, छल सकता है मुझको जीवन व्यापार नहीं।।२।।

इस काल-ग्रसित जग में भी मैं, बन काल-जयी रहता आया,
नश्वर काया बंधन तज कर, मैं स्वयं-जयी रहता आया,
परिवेश बदलता हूँ, लेकिन मिटता मेरा आधार नहीं।
मैं चेतन हूँ, छल सकता है, मुझको जीवन व्यापार नहीं।।३।।

तुम मृत्यु समझते हो जिसको, मेरे सम्मुख वह जीवन है,
केवल काया परिवर्तन है, चिर अविनश्वर यह चेतन है,
जो काट सके इस चेतन को, ऐसी कोई असि-धार नहीं।
मैं चेतन हूँ, छल सकता है मुझको जीवन व्यापार नहीं।।४।।

जितने भी जग के बन्धन हैं, चेतन उनसे निर्लिप्त सदा,
चेतन के सम्मुख आते ही, हो जाते सभी विमुक्त यहाँ,
चेतन की विजय चिरंतन है, होती है उसमें हार नहीं।
मैं चेतन हूँ, छल सकता है मुझको जीवन व्यापार नहीं।।५।।

– (डॉ.) महावीर प्रसाद जैन 'प्रशांत'
डी- ११/६, राजेन्द्र नगर, लखनऊ

साहित्य सत्कार

(१) **श्रीपाल चरित** : ले. पं. दौलतराम कासलीवाल; सम्पादक- डॉ. वीरसागर जैन; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली- ३; प्रकाशन वर्ष- २००३; पृ. १००; मूल्य रु. ४०/-

पं. दौलतराम जी कासलीवाल (वि.स. १७४९-१८२९) हिन्दी जैन साहित्य के अति लोकप्रिय रचनाकार हैं। वह जैन दर्शन-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान थे तथा उनकी २० कृतियां (१० पद्यात्मक तथा १० गद्य) आज उपलब्ध होती हैं। समीक्ष्य कृति प्राचीन कथा साहित्य की एक अतिलोकप्रिय कथा श्रीपाल-मैना सुन्दरी पर आधारित है जो सिद्धचक्र पूजा के महात्म्य के रूप में प्रस्फुटित हुई। इस पद्य कृति में मुख्यतः दोहा और चौपाई का ही सुन्दर प्रयोग किया गया है तथापि यत्र-तत्र सोरठा, अडिल्ल आदि के भी प्रयोग मिलते हैं। वस्तु एवं शिल्प दोनों ही दृष्टियों से यह कृति हिन्दी जैन साहित्य की एक मूल्यवान निधि है।

(२) **अतिशयों का भंडार (तीर्थंकर महावीर की टीले वाली मूर्ति)** : ले. श्री सुरेश जैन 'सरल'; प्र. प्राच्य श्रमण भारती, १२/ए निकट मंदिर, प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर-२५१००१; प्र. वर्ष-२००३; पृष्ठ १६; मूल्य रु. १०/-

(३) **शाकाहारी क्यों ?**: ले. प्रकाशक- वही; प्र. वर्ष २००३; पृ. २०; मूल्य रु. १०/-

(४) **ज्ञान का सागर** : ले. वही; प्रकाशक- श्री दि. जैन अशितय क्षेत्र मंदिर, संघीजी, सांगानेर, जयपुर; प्र. वर्ष-२००१; पृ. १०६; मूल्य रु. ५०/-

उपर्युल्लिखित तीनों पुस्तकों (२-४) के लेखक श्री सुरेश सरल जैन जगत के जाने माने साहित्यकार-लेखक हैं। प्रथम दोनों पुस्तकों का प्रकाशन पूज्य उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज के सोनागिर चातुर्मास के उपलक्ष्य में किया गया है। **अतिशयों का भण्डार** पुस्तिका में सुप्रसिद्ध दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी (राज.) की अति भव्य कत्थई पाषाण की मूलनायक प्रतिमा आज लाखों जैन अजैन भक्तों की अटूट श्रद्धा का केन्द्र बनी हुई है, वह किस प्रकार वि.सं. १७०० के प्रथम दशक में गंभीरा नदी के तट पर बसे चांदनपुर गांव के एक चमार-ग्वाले किरपादास द्वारा एक पुराने टीले से खोद कर निकाली गई तथा किस प्रकार दीवान जोधराज पर वध के लिए राजाज्ञा में छोड़ गए तोप के गोले भी दो-दो बार इस मूर्ति के अतिशय से नाकाम सिद्ध हुए, इसका रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। पुस्तिका के आवरण पर इस अतिशयपूर्ण तीर्थंकर प्रतिमा का भव्य चित्र भी दिया गया है।

दूसरी पुस्तिका **'शाकाहार ही क्यों ?"** में विद्वान लेखक ने शाकाहार को मनुष्यों के लिए आदर्श भोजन तो बताया ही है, तथा मांसाहार के दोषों का भी विवेचन किया ही है, उन्होंने यह भी सिखाने का प्रयास किया है कि शाकाहार का पूर्ण लाभ लेने के लिए तथा उससे विटामिन आदि सभी आवश्यक पोषक तत्वों को अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिए शाकाहार को भी किस प्रकार संतुलित किया जाना चाहिए।

"ज्ञान का सागर" ग्रंथ में सरल जी ने पू. आचार्य ज्ञानसागर महाराज (१८९१-१९७३) का जीवनवृत्त अपनी मंजी हुई रोचक शैली में प्रस्तुत किया है। पंडित भूरामल जी से ६४ वर्ष की आयु में क्षुल्लक, मुनि तदनन्तर आचार्य पद से विभूषित किए गए पू. ज्ञानसागर जी की उदात्त जीवन यात्रा का वर्णन इतना हृदयग्राही है कि पुस्तक एक बार आरम्भ करने के बाद अंत तक पढ़ लेने से पहिले छोड़ने को मन नहीं करता।

संस्कृत भाषा के प्रकांड पंडित एवं कवि आचार्य श्री ने गृहस्थ तथा मुनि अवस्था में २५ संस्कृत (महाकाव्य, खण्डकाव्य, चम्पू काव्य सहित) व हिंदी के ग्रंथों की रचना की थी तथा उनकी साहित्य साधना पर कई शोध प्रबंध भी लिखे जा चुके हैं।

बंधुवर सरल जी की ये तीनों पुस्तकें संग्रहणीय हैं।

(५) **मिला प्रकाश : खिला बसन्त** : लेखक- राष्ट्र संत आचार्य विजय जयन्तसेनसूरि जी; प्र. श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, शेखना पाड़ो, रिलीफ रोड, अहमदाबाद; प्र. वर्ष १९९९; पृ. ३५५; मूल्य रु. ५०/-

समीक्ष्य कृति गणधरवाद का एक विशिष्ट ग्रंथ है। प्रत्येक तीर्थंकर के जो प्रधान शिष्य होते हैं उन्हें गणधर कहा गया है। वे अपने युग के तीर्थंकर की वाणी के व्याख्याकार भी होते हैं। वर्तमान समय में अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी का धर्म शासन प्रवर्तमान है, अतः उन्हीं के गणधरों की परम्परा चल रही है, ये गणधर ११ थे और अपने समय के वैदिक परम्परा के प्रकाण्ड विद्वान होते हुए भी किसी न किसी एक विषय के संशय से ग्रसित थे तथा शास्त्रार्थ द्वारा भगवान महावीर को पराजित करने की दृष्टि से उनके समवसरण में उपस्थित हुए थे। पर भगवान महावीर से अपनी शंकाओं का संतोषजनक समाधान पाकर वे भगवान के शिष्य बन गए थे। ये ग्यारह गणधर, इनका परिचय, इनकी शंकाओं व प्रच्छाओं का समाधान, ये ही इस गणधरवाद ग्रंथ की विषय वस्तु हैं।

समीक्ष्य ग्रंथ में विषय वस्तु का विवेचन चार अध्यायों में किया गया है। प्रथम अध्याय में गणधरवाद का परिचय दिया गया है, द्वितीय में संशयों की पृष्ठभूमि को वैदिक परम्परा की दृष्टि से प्रकट किया गया है। तीसरे अध्याय में इन्द्रभूति गौतम

आदि ११ गणधरों के व्यक्तित्व का परिचय दिया गया है तथा चौथे अध्याय में प्रत्येक गणधर के संशय का समाधान प्रस्तुत किया गया है। अंत में तीन परिशिष्ट दिए गए हैं। प्रथम परिशिष्ट में विशिष्ट शब्दों व पदों के टिप्पण, द्वितीय में गणधरों की शंकाओं के वैदिक वाक्य तथा तीसरे परिशिष्ट में **विशेषावश्यक भाष्य** में दी गई गणधरवाद की गाथाओं को सानुवाद प्रस्तुत किया गया है। आवरण पृष्ठ पर भगवान महावीर तथा उनका शिष्यत्व स्वीकार करते ११ गणधरों का चित्र तथा अन्दर भगवान महावीर, आचार्य विजय राजेन्द्र सूरि तथा लेखक आचार्य श्री के भव्य चित्र दिए गए हैं।

विद्वान लेखक आचार्य श्री ने श्वेताम्बर आम्नाय में संरक्षित विभिन्न आगम ग्रंथों से विषय वस्तु का संकलन कर तथा गणधरों की शंकाओं के मूल वैदिक संदर्भों को भी ढूंढ़कर गणधरवाद के इस ग्रंथ का सृजन कर जिनवाणी की महान् सेवा की है। ग्रंथ अध्ययन योग्य और संग्रहणीय है।

6. First Steps to Jainism (Parts I & II): By Sri Sancheti Asoo Lal and Bhandari Manak Mal; Publisher- Sumcheti Trust, Alaka, D- 121, Shastri Nagar, Jodhpur- 342003; Fourth Illustraed Library Edition- 2002; Pages 153; Price- Rs. 400/- $ 10.00.

Sri A. L. Sancheti, a retired-Railway officer, has written this book for making the principles of Jainism available in simple and concise form for laymen and scholars alike.

Part I of the book contains basic information, in simple language, about Jain ethics metaphysics and philosophy in brief. Part II contains elementary information about the Doctrine of Karma in Jainism. The theory of Anekantwada, Nayavada and Syadvada is also introduced to the readers.

This Library edition also includes 32 plates of beautiful mediaeval Jain Art and Architecture.

The Publishers will be glad to give copies of this book at half price to the readers of Shodhadarsh.

The book is a valuable contribution to Jainism in English language.

– अजित प्रसाद जैन

(७) सत्य और जीवन : लेखक- महात्मा भगवानदीन; सम्पादक-श्री जमनालाल जैन; प्र.- शुचिता प्रकाशन, अभय कुटीर, सारनाथ, वाराणसी-२२१००७; छठा संस्करण, २००३; पृ. १७४+२६; मूल्य रु. १००/-

एक समय राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े रहे, प्रबुद्ध-क्रान्तिकारी चिन्तक, अनुभव के भण्डार महात्मा भगवानदीन जी की सशक्त लेखनी से प्रसूत इस कृति में 'सत्य के रूप', 'सत्य की खोज', 'सत्य और सुख-दुख'', 'सत्य और धर्म-दर्शन' तथा 'परिशिष्ट' इन पांच खण्डों में सत्य के विभिन्न पहलुओं का परत दर परत रहस्योद्घाटन बड़ी ही रोचक शैली में किया गया है। आज के इस युग में जब 'असत्यमेव जयते' ही सत्य हो चला है महात्मा जी की यह सीख बड़ी सार्थक है **"जो आनन्द चाहते हैं, वे 'सत्यमेव जयते' को एकदम मिथ्या कहावत समझकर और जीत की चाह को अपने से दूर भगाकर सच सोचने, सच बोलने और सच करने पर उतारू हों, तो वे टोटे में नहीं रहेंगे, प्रत्युत् इतना लाभ पायेंगे, जिसका हिसाब नहीं।"**

कृति के प्रारम्भ में महात्मा जी के पारिवारिक परिचय और उनके सम्बन्ध में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, जैनेन्द्र कुमार, यशपाल जैन और जमनालाल जैन के उद्गारों और संस्मरणों ने इसे गरिमा प्रदान की है। कृति सभी के लिए पठनीय और संग्रहणीय है।

(८) जैन-दर्शन में द्रव्य : लेखक -डॉ. कपूरचंद जैन; प्र. श्री कैलाशचंद जैन स्मृति न्यास, खतौली- २५१२०१ (उ.प्र.); प्रथमावृत्ति-२००३; पृ. ३२; मूल्य रु. १५/-

जैन धर्म, दर्शन, इतिहास आदि के मनस्वी अध्येता डॉ. कपूरचंद्र जी की लेखनी से प्रसूत इस लघु पुस्तिका में १३ प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों एवं लेखों के ६१ सन्दर्भों के तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से जैन दर्शन में द्रव्य अर्थात् जगत् की उत्पत्ति और उसके स्वरूप आदि का विवेचन आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के सापेक्ष किया गया है। जैन दर्शन के अध्येताओं के लिये कृति पठनीय और मननीय है।

(९) कम्पिल गौरव : प्रणेता- कविरत्न सुरेन्द्र सागर जैन प्रचण्डिया; प्रचण्डिया प्रकाशन, कुरावली- २०५२६५ (जिला मैनपुरी, उ.प्र.); द्वितीयावृत्ति- २००४; पृ. ५२; मूल्य रु. २५/-

उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जनपद की कायमगंज तहसील में गंगा तट पर बसे कम्पिल को १३वें तीर्थंकर विमलनाथ के चार कल्याणकों की भूमि होने का गौरव प्राप्त है। उसी पुण्यभूमि को अनेक प्रकाशित-प्रकाशनाधीन कृतियों के प्रणेता कविवर सुरेन्द्रसागर जी ने अपनी तरुणाई में अबसे ५०-५२ वर्ष पूर्व अपनी भावाभिव्यक्ति का विषय बना प्रस्तुत काव्यकृति का प्रणयन किया था। कवि ने १०१ घनाक्षरी छन्दों

में कम्पिल की गौरवगाथा गाई है और उसके अन्तर्गत उसके पतित-पावन प्रभाव, उसकी प्राकृतिक शोभा और उससे सम्बंधित घटनाओं का वर्णन बड़ी चारुता से किया है। कवि हृदय कम्पिल तीर्थ से इतना प्रभावित है कि परिशिष्ट में २० पद्यों में 'तोता-मैना संवाद' में भी उसकी कीर्ति दुहराने का लोभ संवरण नहीं कर पाया। काव्य के समस्त आवश्यक गुणों से युक्त, प्रांजल भाषा में निबद्ध यह काव्यकृति न केवल नैष्ठिक श्रावकों के लिये अपितु सभी काव्यरसिकों के लिये आनन्ददायिनी है।

(१०) तुलसी : रचनाकार- श्री दयानन्द जड़िया 'अबोध'; प्र. त्रिमूर्ति प्रकाशन, ३७०/२७, हाता नूर बेग, सआदतगंज, लखनऊ-२२६००३; प्रथमावृत्ति २००३; पृ. ४८; मूल्य रु. ४०/-

बहुरंगी साहित्य सृजन के धनी, गोस्वामी तुलसीदास के अनन्य भक्त 'अबोध' जी ने प्रस्तुत कृति में खड़ी बोली में १०१ कुण्डलियां छन्दों के माध्यम से तुलसी का चरित्र-गान कर अपने उस काव्य-गुरु को अपनी भावांजलि अर्पित की है। सरल-सुबोध भाषा में निबद्ध और काव्य के नैसर्गिक गुणों से युक्त यह कृति न केवल तुलसी-भक्तों के लिये अपितु सभी काव्यरसिकों के लिये आनन्दवर्धक है।

(११) मांसाहार ख़तरा-ए-जान : लेखक पू. क्षु. १०५ श्री ध्यानसागरजी; प्र. अनेकान्त स्वाध्याय मंदिर, भगवान महावीर मार्ग, रामनगर, वर्धा-४४२००१; पृ. ८२+१८; प्र. वर्ष २००३; मूल्य रु. २५/-

अपने गृहस्थ जीवन में एम.बी.बी.एस. के छात्र रह चुके प्रबुद्ध चिन्तक-लेखक पू. क्षु. ध्यानसागरजी ने जीव दया और शाकाहार की मानव जीवन में आवश्यकता को हृदयंगम कर मांसाहार करने वालों को उस आहार से होने वाले ख़तरे से आगाह करने के लिये सरल-सुबोध भाषा में, शंका-समाधान की शैली में युक्तिपुरस्सर ढंग से अपनी बात इस पुस्तक में प्रस्तुत की है। विषय का विवेचन नौ खण्डों में किया गया है और पुष्टि हेतु यथावश्यक आधुनिक वैज्ञानिक तथ्यों, साहित्य, धर्म ग्रन्थों एवं ऐतिहासिक प्रसंगों का उपयोग किया गया है। "हरि हर ब्रह्मा बुद्ध जिनेश्वर परम-पिता अल्ला ताला, वाहे गुरु यह अरज करूँ मैं बना रहूँ मैं दिल वाला। निरपराध को कभी न मारूँ बनूँ नहीं मन का काला, चाहे कोई क्यों न मुझे दे पारस-मणियों की माला।।" इस प्रार्थना से प्रारम्भ हुई कृति में 'जरा सोचिये!' के अन्तर्गत जो प्रश्न उठाये गये हैं वे हर संवेदनशील मानव के हृदय को झकझोरेंगे। आशा है, यह कृति अपने उद्देश्य में सफल होगी।

- रमा कान्त जैन

समाचार विमर्श

गुरु भवन-

म. प्र. के देवास जिला मुख्यालय से ५ कि.मी. की दूरी पर इंदौर-भोपाल मार्ग पर एक वीरान पड़ी टेकड़ी पर अंकलीकर परम्परा के आचार्य श्री पुष्पदंतसागर महाराज द्वारा १०० करोड़ की लागत का परिकल्पित अभिनव अतिशय क्षेत्र पुष्पगिरि उनके युवा मुनि संघ (१४ मुनि+४ क्षुल्लक+२ क्षुल्लिकाएं) के समर्पित प्रयास से द्रुत गति से विकसित हो रहा है। क्षेत्र पर साधु-साध्वी निवास (भवन) के अलावा डेढ़ करोड़ की लागत से एक गुरु भवन का भी निर्माण किया गया है जो आचार्य श्री को सप्त दिवसीय पुष्पगिरि महोत्सव के अन्तिम दिन १ जनवरी, २००४ को उनके ५०वें अवतरण (जन्म जयन्ती) दिवस के सुअवसर पर उनके चरण कमलों में अर्पित किया गया।

अपने शिष्यानुशिष्यों तथा श्रद्धालुओं द्वारा कलिकाल तीर्थंकर (?) कहे जाने वाले मुनि आदिसागरजी अंकलीकर की परम्परा के आचार्य श्री पुष्पदंतसागरजी एक महान् प्रभावक आचार्य हैं। अभी तक कतिपय क्षेत्रों पर दिवंगत आचार्यों के समाधि मंदिर तथा साधु निवासों का निर्माण ही सुनने में आया था। अब डेढ़ करोड़ रु. की लागत (इसमें भूमि का मूल्य शामिल नहीं है) में दिव्योचित भव्यता प्रदान करने के लिए बहुमूल्य पत्थरों का प्रचुर उपयोग किया गया होगा। सर्व सुविधा युक्त भव्य गुरु भवन के स्वामी बनने के लिए हम भी अपरिग्रह महाव्रतधारी आचार्य श्री का उनके ५०वें अवतरण दिवस पर अभिनंदन करते हैं।

आचार्य श्री द्वारा कुछ नई परम्पराओं का (चातुर्मास स्थापना पर स्वयं प्रसाद वितरण, नवरात्रि विधान आदि) का दिगम्बर जैन आम्नाय में प्रवेश हुआ है जिनसे कुन्दकुन्द आम्नाय अपरिचित थी। कदाचित् अब नई पुष्पदंत आम्नाय का युग प्रारंभ हो रहा है।

निर्वाण लाडू-

तीर्थंकरों की पूजा में पूजा के अंत में उनके पांचों कल्याणकों के अर्घ चढ़ाए जाते हैं। पर जब किसी तीर्थंकर का निर्वाण दिवस मनाया जाता है तो उस दिन पूजा में निर्वाण कल्याणक के अर्घ में अर्घ बोलते हुए भी लाडू (नैवेध्य) चढ़ाया जाता है। यह विसंगति क्यों? विद्वज्जन कृपया समाधान करें।

कुछ समय पूर्व तक जैन समाज में केवल भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण कल्याणक कार्तिक कृष्ण अमावस्या को सामूहिक रूप से मनाए जाने की प्रथा थी तथा उत्तर प्रदेश के मेरठ, मुजफ्फरनगर आदि पश्चिमी जिलों में, श्री मंदिर जी में ही पंचायत की ओर से देशी खांड के लड्डू विशेषकर शुद्धता की दृष्टि से बनवा दिये जाते थे। अब तो अनेक जगह बूंदी के-बेसन के लाडू चढ़ाने का रिवाज हो गया है। शुद्धता का विचार करने वाले कुछ श्रावक साबुत गोले को छील कर उसे लाडू के रूप में चढ़ाते हैं। सर्वोपरि ध्यान शुद्धता का तथा चढाए जाने वाले द्रव्य के सचित न होने का रखा जाता है।

विगत कुछ वर्षों से हमारे कतिपय महामुनियों व आर्यिका माताओं की प्रेरणा से (विशेषकर उनके चातुर्मास के स्थान पर) साधुओं की आपसी होड़ में एक से एक बड़े सामूहिक लाडू भी (बोली लगवाकर) चढ़ाने प्रारंभ हो गए हैं। २०-२५ किलो का ही नहीं, १०८ किलो, ७२० किलो यहां तक कि १००८ किलो का लाडू भी चढ़ाए जाने के समाचार मिलने लगे हैं। इटावा में ७१० किलो के निर्वाण लाडू के साथ १४०० घृत दीपकों से भगवान की आरती किए जाने का समाचार मिला था। वैभव व प्रभाव प्रदर्शन की यह अनोखी शैली विकसित हो रही है।

पूजा की इस विकृति पर व्यथा प्रकट करते हुए कोलकाता वासी जागरूक सुश्रावक श्री कैलाशचंद्र जी अपने पत्र में लिखते हैं कि 'इंदौर में १००८ किलो का लाडू चढ़ाया गया जिसमें सात भट्टियां जलाई गईं। इस लाडू के बनाने में हुई हिंसा का अनुमान लगायें। अब वह दिन दूर नहीं जब पूजा के छद्म वेश में ५६ भोग और अन्न कूट जैसी हिन्दू प्रथाएं येन केन प्रकारेण जैन समाज में भी प्रचलित हो जाएगी। एक प्रभावक आचार्य श्री द्वारा मुम्बई में अपने चातुर्मास स्थापना पर स्वयं प्रसाद वितरण करने का भी समाचार मिला है।'

हम भी श्री कैलाशचंद्र जी की व्यथा में भागीदार हैं। समाचार पत्रों में यदा कदा १००० पौंड, १००० किलो के विशालकाय केक बनाए जाने के समाचार पढ़ने में आते रहते हैं पर वे केक तो सामूहिक भोज के लिए होते हैं। उसी की तर्ज पर विशाल काय निर्वाण लाडू चढ़वाना अंधानुकरण है, तर्क सम्मत नहीं। दिगम्बर जैन आम्नाय में तीर्थंकर भगवान की पूजा में अर्पित किए गए द्रव्य को निर्माल्य द्रव्य कहा गया है जिसका यदि कोई उपभोग करता है तो वह घोर नरक की आयु का बंध करता है। यह भी ध्यान रखा जाता है कि पूजा कार्य में न्यूनतम हिंसा हो। इसीलिए उचित सामग्री

से ही पूजा की जाती है तथा अनेक जगह इतनी अल्प सामग्री से पूजा की जाती है कि जिसे पूजा के उपरान्त होम पात्र में भस्म कर दिया जाए ताकि उसके उपभोग से किसी को नरक का भोगी न बनना पड़ जाए। ज़ाहिर है इतने वज़नी लाडुओं के निर्माण में हिंसा भी उसी अनुपात में अधिक होगी और यह भारी खाद्य सामग्री यदि भिखारियों आदि में भी वितरित की जाएगी तो पूजक श्रावक भी उन्हें उसका उपभोग करने के लिए प्रेरित करने के लिए और भी अधिक अशुभ कर्मों के बंध के भागी होंगे। उन महामुनियों के कैसे कर्मों का बंध होगा यह तो वे ही जाने। वे आगमों के शास्त्रों के ज्ञाता हैं, अध्येता हैं। हमारा शास्त्रि परिषद, विद्वत् परिषद आदि के शास्त्र मर्मज्ञ विद्वानों से विनम्र अनुरोध है कि पूजा कार्यों में आती इन विकृतियों की रोकथाम के लिए सशक्त अभियान चलावें।

महासभा का प्रस्ताव : उपगूहन फिर बना श्रमण शिथिलाचार का रक्षक -

दि. २४ दिसम्बर, २००३ को कोलकाता में श्री निर्मलकुमार जी सेठी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुए श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन (धर्म संरक्षिणी) महासभा के अधिवेशन में पारित एक प्रस्ताव के द्वारा आचार्य श्री विरागसागरजी को उन्हीं के शिष्य (अब संघ से अलग हो गये) ब्र. इन्द्रकुमार पोटी द्वारा लगाए गए अपने शिष्य/शिष्याओं के साथ दुर्व्यवहार-दुराचार-अनाचार करने के गंभीर आरोपों से पूर्णतया बरी कर दिया गया तथा साथ ही आचार्यश्री को बदनाम करने के लिए ब्र. पोटी की भी घोर भर्त्सना की गई। यह प्रस्ताव उस जांच समिति के निष्कर्षों के आधार पर पारित किया गया जो महासभा अध्यक्ष ने विद्वत् परिषद तथा शास्त्री परिषद के शीर्ष पदाधिकारियों को सम्मिलित करते हुए आरोपों की जांच के लिए गठित की थी।

आचार्य श्री विरागसागर एक वरिष्ठ आचार्य हैं जिनके द्वारा दीक्षित मुनियों-आर्यिकाओं की संख्या १०० से भी अधिक बताई जाती है। उनके अनेक शिष्य-शिष्यायें उनके व्यवहार-चर्या-आचरण से असन्तुष्ट होकर संघ से अलग हो गए हैं या निष्कासित कर दिए गए हैं तथा उनमें से कुछ तो आचार्यजी के प्रबल विरोधी भी हो गए हैं। कुछ समय पूर्व ब्र. पोटी ने "इस युग का सबसे भ्रष्ट आचार्य विरागसागर" शीर्षक से बड़े-बड़े रंगीन पोस्टर तथा परिपत्र हजारों की संख्या में छपवाकर जगह-जगह भेजे थे, जिनमें उन पर लगाए गए गंभीर आरोपों का विवरण दिया गया था। आरोपकर्ता

ब्रह्मचारी जी ने यह भी दावा किया था कि आरोपों की सत्यता प्रमाणित करने के लिए उनके पास साक्ष्य भी हैं।

डॉ० चिरंजीलाल बगड़ा जिन्होंने इस अधिवेशन में सक्रिय भाग लिया था ने इस पर अपनी प्रतिक्रिया 'दिशाबोध' के फरवरी २००४ के अंक में निम्न प्रकार व्यक्त की है-

"वहाँ जो चर्चाएं उभर कर सामने आई उसके बाद अपने को दिगम्बर जैन समाज का एक सदस्य कहने में भी अब शर्म महसूस होती है-- खुले आम श्रमणों के द्वारा किए जा रहे दुराचार पर चर्चा हुई। परन्तु ढाक के तीन पात। सब कुछ सुन समझ कर सदैव की भांति लीपापोती करना, शब्दाडम्बर के साथ प्रस्ताव पारित करना तथा यह स्वीकार करना कि हम कुछ नहीं कर सकते!-- (क्या हम) इस प्रकार शिथिलाचार का अनवरत पोषण करते रहेंगे?"

'जैन गज़ट' दि. २३ अक्टूबर, २००३ में प्रकाशित जांच समिति के निष्कर्षों को पढ़कर तथा उसे आधार बनाकर महासभा द्वारा पारित किए गए प्रस्ताव को देखकर हमारा भी यह अनुमान था कि इस बार भी ६ वर्ष पूर्व के आचार्य सन्मतिसागर विद्याभूषण (सिंहरथ वाले)- आर्यिका संयमभूषणमती प्रकरण के इतिहास को ही दोहराया गया प्रतीत होता है तथा उपगूहन अंग श्रमण शिथिलाचार-अनाचार का रक्षक बनकर एक बार फिर खड़ा हो गया है। डॉ० बगड़ा की प्रतिक्रिया से हमारे अनुमान की भरपूर पुष्टि हो गई। हमें आश्चर्य हुआ तो केवल यही कि शास्त्री परिषद तथा विद्वत् परिषद (डॉ० रमेशचंद्र गुट) के शीर्ष पदाधिकारी जिन्हें जांच समिति में संयोजक व सदस्य बनाया गया था, वे भी शिथिलाचार पर लीपापोती के इस नाटक में भागीदार थे। महासभा के इस अधिवेशन में शास्त्री परिषद, विद्वत् परिषद तथा तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ के विद्वज्जन भारी संख्या में उपस्थित थे, जो प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जी के अभिनन्दन समारोह के निमित्त से कोलकाता आए हुए थे, पर वे भी प्रस्ताव पारित होते समय कदाचित् मूक दर्शक ही बने बैठे रहे। विद्वज्जन समाज के मार्ग दर्शक होते हैं, पर इससे तो उनकी विश्वसनीयता पर ही प्रश्न चिह्न लगता है।

जब तक हम पिच्छीधारियों के बड़े से बड़े दोष को भी उपगूहन के नाम पर ढांकने का प्रयास करते रहेंगे, तथा हर दिगम्बर मुनिवेशी को पूज्य मानते रहेंगे, श्रमण शिथिलाचार की रोकथाम करना कैसे संभव हो सकता है?

- अजित प्रसाद जैन

शंका-समाधान

(१) श्री शांतिलाल बैनाड़ा (आगरा) की शंकाएं-

शोधादर्श ५१ में डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल ने अपने लेख ''उत्पीड़क कल्कि राजा का बीज दग्ध करें' में लिखा है कि पंचम काल में कल्कि एवं उपकल्कि होंगे जो धर्म का समूल नाश करेंगे, सिर्फ इतना ही वर्णन जैन शास्त्रों मे मिलता है। आखिर में एक श्रावक एक मुनिराज का नाम लिखा गया है। लेकिन इन २१००० वर्ष के पंचमकाल का पूरा वर्णन क्या है? कहीं पर हो तो जानकारी दें।--आज आबादी इतनी बढ़ गई है कि सड़क पर चलना मुश्किल हो गया है। क्या मनुष्य गति मिलना सुलभ हो गया है--आज ५०-६०-७० वर्ष हो गए पूजा पाठ देते हुए लेकिन कुछ भी सारांश प्रत्यक्ष में देखने को नहीं मिलता जबकि लेख मौजूद हैं कि एक बार णमोकार मंत्र पढ़ने से उद्धार हो गया--जैन भूगोल का आज की साइंस से कोई मिलान नहीं होता।

<u>समाधान</u>- जस्टिस एम. एल. जैन द्वारा-

आचार्य गुणभद्रकृत **उत्तर पुराण** के अनुसार पंचमकाल के एक हजार वर्ष बीत जाने पर पाटलिपुत्र में चतुर्मुख कल्कि राजा होगा जो दिगम्बर जैन मुनियों के आहार पर भी कर लगाएगा। यह कल्कि राजा ७०० वर्ष की आयु पाकर एक सम्यक्दर्शी असुर के द्वारा मारा जायगा। आचार्य गुणभद्र के वर्णनानुसार इस कल्कि राजा का समय ४७७ से ५४७ ई. बैठता है। मेरा अनुमान यदि सही हो तो यह कल्कि हूण शासक या उस गुप्त साम्राज्य का अंतिम शासक होना चाहिए जो गुप्तवंश में वैदिक धर्म का चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य था जिसने जैन धर्म के मानने वाले अपने बड़े भाई रामगुप्त की हत्या कर साम्राज्य ही नहीं हड़पा बल्कि अपनी विधवा भावज को भी अपनी स्त्री बना लिया था।

आ. गुणभद्र के अनुसार दूसरा कल्कि वी.नि. २००० याने १४७३ ई. में होना चाहिए। गालवन यह कोई अत्याचारी मुस्लिम शासक रहा होगा।

आ. गुणभद्र ने यह भी लिखा है कि दुखमा (पंचम) काल के एक-एक हजार वर्ष के बाद जब क्रमशः २० कल्कि हो चुकेंगे तब जलपन्न नाम का अंतिम कल्कि राजा होगा याने उसके बाद कोई राजा न होगा। यदि आ. गुणभद्र की पौराणिक अतिरंजना को थोड़ी देर के लिए भुला दें तो यह अंतिम कल्कि समंदर पार का ब्रिटिश शासक होना चाहिए जिसकी समाप्ति के बाद ही, भारत में राजतंत्र समाप्त हो गया और सन् १९४७ ई.याने कि वि.नि. २०७४ में प्रजातंत्र कायम हो गया।

बहुत अर्सा पहिले पढ़े हिन्दू कल्कि पुराण में स्मरण पड़ता है कि कल्कि को विष्णु का अंतिम अवतार बताया गया है जिसने जैन-बौद्ध शासकों की सेनाओं को पराजित कर बड़ा आतंक फैलाया था व वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना की थी। इस विषय पर अधिक प्रकाश इतिहास के मर्मज्ञ विद्वानों को डालना चाहिए।

(**सम्पादकीय टिप्पणी-** जहाँ तक हमारी सीमित जानकारी है, उपलब्ध प्राचीन जैन वाङ्मय में पंचमकाल के २१००० वर्षों का विस्तार से वर्णन कहीं नहीं मिलता। जो मिलता है उस पर जस्टिस जैन ने ऊपर प्रकाश डाला है। हमारी अपनी सोच है कि हमारे सभी शास्त्र रचयिता आचार्य भी इसी पंचम काल में जन्मे थे तथा उन्होंने अपने समय तक की हुई धर्म विनाशकारी घटनाओं का तथा तत्कालीन पतनशील प्रवृतियों से भविष्य की और भी भयावह स्थिति का अनुमान लगाकर सम्राट चन्द्रगुप्त के स्वप्नों के फल विचार आदि के रूप में सांकेतिक भाषा में संक्षेप में वर्णन कर दिया।

भूगोल खगोल की अवधारणाओं की अवैज्ञानिकता- दिगम्बर जैन मान्यता के अनुसार गणधर देवों द्वारा निबद्ध द्वादशांग श्रुत का वीर निर्वाण के १६२ वर्ष बाद (अंतिम श्रुत केवली भद्रबाहु स्वामी के उपरान्त) श्रुतधर साधुओं की स्मृति क्षीणता के कारण विच्छेद हो गया तथा केवल कतिपय एक देश श्रुत ज्ञाता आचार्य ही रह गए किन्तु इन आचार्यों में किसी आचार्य की हमको जानकारी नहीं है जिन्हें भूगोल खगोल विषयक आगमिक श्रुत का पूर्ण ज्ञान रहा हो। अतः **तिलोयपपण्णति** और **तत्वार्थ सूत्र** आदि में इस संबंध में जो वर्णन मिलते हैं वे कितने केवली प्रणीत हैं और कितने परवर्ती आचार्यों की अपनी सूझबूझ पर आधारित हैं, कहना कठिन है। श्वेताम्बर आम्नाय के उपांग **जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, चंद्रप्रज्ञप्ति** तथा **सूर्य प्रज्ञप्ति** का संकलन-लिपिकरण भी क्षमा श्रमण देवर्द्धिगणी द्वारा वीर निर्वाण के १००० वर्ष बाद अन्य आगमिक साहित्य के साथ किया गया था तथा उनके स्वयं के कथनानुसार उन्हें यह सम्पूर्ण श्रुत क्षत विक्षत तथा प्रक्षिप्त ही प्राप्त हुआ था। अतः उसकी भी प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं है।

हमारा यह भी मानना है कि अनेक पारिभाषिक शब्दों के वास्तविक अर्थ परवर्ती टीकाकारों ने कदाचित् मूल अर्थों को भुलाकर अपने समय के प्रचलित अर्थों में लगा दिए हैं।

इतना सारा कुछ होते हुए भी आधुनिक खगोल विज्ञान जैन खगोल विज्ञान की अवधारणाओं के निकट आता जा रहा है।

मनुष्य गति की सुलभता- जीव राशि तो अनन्त है, उसमें मनुष्य गति के जीव पूरे विश्व में संख्यात ही हैं। वर्तमान में जनसंख्या अधिक बढ़ जाने के कारण है- चिकित्सा विज्ञान की प्रगति जिसके कारण अनेक असाध्य समझे जाने वाले रोगों का इलाज संभव हो गया है तथा महामारियों पर नियंत्रण हो गया है इस सबसे मृत्युदर बहुत घट गई है। एक दूसरा कारण यह भी था कि पहले देश छोटे छोटे राज्यों में बंटा था जो आपस में लड़ते रहते थे। परिणामस्वरूप भारी नर संहार होता रहता था तथा स्थानीय अकाल पड़ते रहते थे। **- अजित प्रसाद जैन)**

(२) श्री कैलाशचंद जैन, कोलकाता की शंकाएं-

१. 'जैन गज़ट' दि. १७ जुलाई ०३ के पृष्ठ ८ पर छपे समाचार के संदर्भ में यह स्पष्ट किया जाए कि दि. जैन धर्म के किस आगम ग्रंथ में प्रसाद वितरण का प्रावधान है चाहे वह देव, शास्त्र या गुरु किसी के भी उपलक्ष या सान्निध्य में क्यों न हो? जिन आचार्य श्री के चातुर्मास स्थापना के उपलक्ष्य में और उनके सान्निध्य में यह प्रसाद वितरित किया गया, उनके द्वारा प्रेरित/स्थापित पुष्पगिरि के निमित्त क्या धन संचय-लाटरी द्वारा, जो कि जुए का ही एक रूप है, करना आगमोक्त है?

२. दि. २३.१०.०३ के 'जैन मित्र' के मुख पृष्ठ पर समाचार प्रकाशित हुआ है "सर्वोदय तीर्थ अमरकंटक में ६ नवम्बर ०३ को द्वितीय जैन कुंभ"। क्या कुंभ समारोह का आयोजन जैन धर्म/आगम सम्मत है?

३. 'जैन मित्र' के उपरोक्त अंक में यह भी समाचार छपा है- 'नवरात्रि नवदेवता विधान'। नव देवता तो आगम सम्मत हैं, परन्तु नवरात्रि विधान नहीं। नवरात्रि हिन्दुओं का देवी पूजा का पर्व है। क्या नवरात्रि जैन आगमोक्त है?

(विद्वत्/शास्त्री परिषद् के शास्त्र मर्मज्ञ विद्वानों से अनुरोध है कि उपरोक्त जिज्ञासाओं का शास्त्र-सम्मत समाधान प्रस्तुत करने की कृपा करें- अजित प्रसाद जैन)

भूल सुधार

शोधादर्श-५१ में पृष्ठ ३७ पर **'मानव का क्या अर्थ रहा'** शीर्षक से प्रकाशित पंक्तियां हमें श्री शांतिलाल जैन बैनाड़ा, आगरा ने प्रेषित की थीं। वस्तुतः ये पंक्तियां लखनऊ के कवि स्व. श्री फूलचंद्र जैन 'पुष्पेन्दु' की रचना **'पहले हम इन्सान बनें'** से उद्धृत हैं। यह उल्लेख होने से रह गया था, एतदर्थ खेद है।

समाचार विविधा

श्री सम्मेदशिखर जी पर्वत पर तीर्थयात्रियों के लिए नई सुविधाएं-

जैन समाज के दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दातारों के आर्थिक सहयोग और सम्मिलित प्रयास से श्री शिखरजी (पारसनाथ पर्वत) पर स्थित श्री गौतमस्वामीजी और श्री पार्श्वनाथ जी की टोंकों पर कुछ नए कमरों का हाल ही में निर्माण दोनों समाज की दो प्रमुख संस्थाओं द्वारा कराया गया है। इनका उपयोग सभी जैन तीर्थयात्री स्नान, पूजन-क्रिया तैयारी, शास्त्र-स्वाध्याय, ध्यान आदि के लिए और तात्कालिक रूप से रुकने के लिए कर सकते हैं।

ग्रन्थों का लोकार्पण-

कोलकाता में २४-२६ दिसम्बर, २००३ को आयोजित कार्यक्रमों में **डॉ. कपूरचंद एवं डॉ. ज्योति जैन** द्वारा प्रणीत ग्रन्थ **'स्वतन्त्रता संग्राम में जैन' (प्रथम खण्ड)** और डॉ. कपूरचंद जैन की कृति **'भारत संविधान विषयक जैन अवधारणायें'** का तथा ३१ जनवरी, २००४ को उदयपुर विश्वविद्यालय में प्रो. प्रेम सुमन जैन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर केन्द्रित डॉ. जिनेन्द्र जैन द्वारा सम्पादित **'गौरव-ग्रन्थ पाहुड'** का लोकार्पण किया गया।

आचार्य विद्यासागर महाराज पर विशेष मोहर व विशेष आवरण-

बिलासपुर (छत्तीसगढ़) में सम्पन्न पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, विश्वशांति महायज्ञ एवं त्रय-गजरथ महोत्सव पर २४ जनवरी, २००४ को ज्ञानकल्याणक के दिन महोत्सव समिति द्वारा भारतीय डाक विभाग के सहयोग से आचार्य विद्यासागर महाराज पर विशेष मोहर एवं विशेष आवरण जारी हुआ। विशेष आवरण पर भ. ऋषभदेव और आ. विद्यासागर महाराज के चित्र मुद्रित हैं। साथ ही सिंघई परिवार बिलासपुर द्वारा क्रांति नगर में नवनिर्मित जैन मन्दिर का चित्र भी है। विशेष मोहर में आचार्यश्री को आशीर्वाद देते हुए दिखाया गया है।

राजस्थान विश्वविद्यालय का जैन दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति पर शोध कीर्तिमान-

डॉ. पी. सी. जैन, निदेशक, जैन अध्ययन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ने बताया कि आज तक सम्पूर्ण भारत के १२० विश्वविद्यालयों से करीब १५०० व्यक्तियों द्वारा जैन दर्शन, साहित्य एवं संस्कृति विषयक शोध कार्य सम्पन्न हुए हैं

जिनमें से अकेले राजस्थान विश्वविद्यालय से १७० व्यक्तियों ने शोधकार्य सम्पन्न किया जो कि एक कीर्तिमान है। राजस्थान विश्वविद्यालय के जैन अनुशीलन विभाग द्वारा १ लाख हस्तलिखित ग्रन्थों का सूचीकरण एवं सर्वेक्षण तथा उसके प्रकाशन का कार्य करना भी एक कीर्तिमान है। भारत के किसी भी विश्वविद्यालय द्वारा एक लाख हस्तलिखित ग्रन्थों का सर्वेक्षण, सूचीकरण एवं प्रकाशन अद्यावधि नहीं हुआ है।

बाड़मेर में १२वीं शती की भ. महावीर मूर्ति-

राजस्थान में बाड़मेर जिले के प्राचीन किराडू जूनापतरासर और देवका गांव के मंदिरों के पास कराई जा रही खुदाई में भ. महावीर की १२वीं-१३वीं शती की मूर्ति, दो ताम्रपत्र, शंख तथा सैकड़ों प्राचीन कलात्मक कृतियां एवं पत्थर निकले हैं। भ. महावीर की मूर्ति, दो शंख एवं ताम्रपत्र को राजकीय पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग, जोधपुर ने अपने अधीन लेकर सुरक्षित स्थान पर रखवा दिया है।

जैन कला संगोष्ठी-

६ फरवरी को श्रद्धेय इतिहास-मनीषी, विद्यावारिधि डॉ. ज्योति प्रसाद जैन की ९२वीं जन्म जयन्ती पर ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ में जैन कला संगोष्ठी 'शोधादर्श' एवं 'समन्वयवाणी' पत्रिकाओं के प्रधान सम्पादक वयोवृद्ध विद्वान श्री अजित प्रसाद जैन की अध्यक्षता में हुई। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव मुख्य अतिथि रहे। संचालन श्री रमाकान्त जैन ने किया।

श्रद्धेय डॉक्टर साहब के चित्र पर माल्यार्पण और दीप-प्रज्ज्वलन तथा डाक्टर साहब द्वारा रचित 'वीतराग स्वरूपम्' और 'जय महावीर नमो' के समवेत गायन के साथ कार्यक्रम का शुभारंभ हुआ। सर्वप्रथम डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने जैन वाङ्मय और कला के संदर्भ में मांगलिक प्रतीक 'श्रीवत्स' के अंकन के स्वरूप, महत्व और इतिहास के सम्बन्ध में विशद प्रकाश डाला। राज्य संग्रहालय, लखनऊ के पूर्व निदेशक डॉ. शिवदयाल त्रिवेदी ने मथुरा की जैन कला के विविध आयामों को अपनी वार्ता में उजागर किया और रामकथा संग्रहालय, अयोध्या के पूर्व निदेशक डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी ने तीर्थंकर पाद पीठिकाओं के क्रमिक विकास की यात्रा को चित्रों के माध्यम से स्पष्ट किया। डॉ. शशिकान्त ने विषय विशेषज्ञ इन तीनों विद्वानों द्वारा अपनी वार्ता में प्रस्तुत बिन्दुओं पर अपनी समीचीन दृष्टि डाल संगोष्ठी को ऊंचाई प्रदान की।

अभिनन्दन

२४ नवम्बर, २००३ को बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी के विशेष दीक्षान्त समारोह में **साहू रमेशचंद जैन** को पत्रकारिता के क्षेत्र में उत्कृष्ट योगदान के लिये डी. लिट्. की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया।

निम्नलिखित को पी-एच.डी. की उपाधि प्रदान की गई-

१. **श्री नरेन्द्रकुमार कासलीवाल** को उनके शोध-प्रबन्ध **'राजस्थान के जैन मंदिर-एक अध्ययन'** पर राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा; २. **श्रीमती शेफाली अग्रवाल** को उनके शोध-प्रबंध **'जैन योग का समीक्षात्मक अध्ययन'** पर तथा ३. **सुश्री ममता जैन** को उनके शोध-प्रबंध **'उत्तर प्रदेश में हिन्दी पत्रकारिता : उपलब्धि एवं मूल्यांकन'** पर रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली द्वारा; ४. **श्रीमती मुकेश गौतम** को उनके शोध-प्रबंध **'महाकवि अर्हद्दास की कृतियों का समीक्षात्मक अध्ययन'** पर मेरठ विश्वविद्यालय द्वारा; ५. **श्री बसन्त कुमार जैन** को उनके शोध-प्रबंध **'गुणभद्राचार्य कृत आत्मानुशासन का समीक्षात्मक अध्ययन'**, ६. **श्री देवेन्द्रसिंह** को उनके शोध-प्रबंध **'महाकवि अर्हद्दास विरचित मुनिसुव्रत काव्य का गवेषणात्मक अध्ययन'** पर तथा ७. **श्री पंकज कुमार** को उनके शोध-प्रबंध **'जैनाचार्य महाकवि ज्ञानसागर विरचित जयोदय महाकाव्य का दार्शनिक अध्ययन'** पर सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा विद्यावारिधि।

दिसम्बर में सम्पन्न प्रदेश विधानसभाओं के चुनावों में **राजस्थान विधानसभा** में **सर्वश्री महावीर प्रसाद जैन, गुलाबचंद कटारिया, ज्ञानचंद पारख, शांतिलाल चपलोत, प्रतापसिंह सिंघवी, प्रद्युम्न सिंह, संयम लोढा और डॉ. चन्द्रशेखर वैद-निर्वाचित हुए।** तथा **मध्यप्रदेश विधानसभा में श्री राघवजी सावला, श्रीमती अलका जैन, श्री जयंत मलैया, श्री हिम्मत कोठारी, श्रीमती सुधा जैन, श्री नरेश दिवाकर, श्री पारस जैन, श्री शरद जैन तथा श्री ओमप्रकाश सखलेचा** निर्वाचित हुए। **श्री राघवजी सावला** और **श्रीमती अलका जैन** मंत्रिमण्डल में भी शामिल किये गये।

महामहिम राष्ट्रपति द्वारा १. वयोवृद्ध स्वतंत्रता संग्राम सेनानी एवं पूर्व सांसद **श्रीमंत डालचंद जैन**, सागर को सम्मानित किया गया तथा २. सामाजिक उत्थान के क्षेत्र में उत्कृष्ट सेवाओं हेतु मेडिकल कालेज, जयपुर के अतिरिक्त प्राचार्य **डॉ. विनोद जैन शाह** को राष्ट्रीय पुरस्कार प्रदान किया गया।

२४-२६ दिसम्बर को कोलकाता में सुख्यात विद्वान **प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जी, फिरोजाबाद** का भव्य अभिनंदन विभिन्न संस्थाओं द्वारा किया गया और उन्हें अभिनंदन ग्रन्थ **'मनीषा'** भेंट किया गया तथा **'स्याद्वाद विद्यावारिधि'** की उपाधि से अलंकृत किया गया।

१५ जनवरी, २००४ को नई दिल्ली में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रवर्तित **आचार्य विद्यानंद पुरस्कार-२००० 'विद्वत्‌रत्न'** की उपाधि सहित उत्कल संस्कृत विश्वविद्यालय भुवनेश्वर में प्राकृत एवं जैन विद्या विभाग के निदेशक **प्रो. लालचंद जैन** को उनकी जैन वाङ्मय के प्रति बहुविध सेवा के लिये तथा **आचार्य विद्यानंद पुरस्कार-२००१ 'प्राकृत भाषा विशारद'** की उपाधि सहित राजकीय प्राकृत जैन शास्त्र एवं अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली में कार्यरत **डॉ. ऋषभचंद्र जैन** को प्रदान किया गया।

गणतंत्र दिवस पर भारत सरकार द्वारा प्रमुख उद्योगपति **श्रीमती सरयू दफ्तरी** और जैन विद्वान् **डॉ. कुमार पाल देसाई** को **'पद्मश्री'** अलंकरण से भूषित किये जाने की घोषणा की गई।

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी ने १ फरवरी को **श्री देवकुमार सिंह कासलवील,** इंदौर को अपना परम संरक्षक मनोनीत कर उनका अभिनंदन किया।

भोगीलाल लेहरचन्द प्राच्य विद्या संस्थान दिल्ली द्वारा प्रदत्त आचार्य हेमचन्द्र सूरी पुरस्कार २००३ के लिये जर्मन विद्वान **प्रो० विलियम बी बोली** को चुना गया है। पुरस्कार में इक्यावन हजार रुपये तथा आचार्य हेमचन्द्र सूरी की स्वर्ण भूषित प्रतिमा भेंट की जाती है। प्रो० बोली की भी प्राकृत भाषा तथा जैन साहित्य पर कई पुस्तकें प्रकाशित हैं।

'जैन महिलादर्श' की सम्पादिका **डॉ. नीलम जैन** को पत्रकारिता में विशिष्ट अवदान के लिये **'गुरु-आशीष'** पुरस्कार से तथा शिवपुरी में **'जैन ज्योत्सना'** अलंकरण से सम्मानित किया गया।

श्रुत संवर्द्धन संस्थान, मेरठ ने अपने वर्ष २००३ के **श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार डॉ. शीतलचंद्र, जयपुर; पं. नीरज जैन, सतना; श्री शैलेष डाह्या भाई कापड़िया, सूरत; डॉ. रमेशचंद्र जैन, बिजनौर** और **प्रो. एल. सी. जैन, जबलपुर** को तथा **सराक पुरस्कार** यमुना विहार, दिल्ली के **जैनम् फाउण्डेशन** को प्रदान किये।

भगवान महावीर फाउण्डेशन, चेन्नई ने **डॉ. प्रेमसुमन जैन, उदयपुर** को उनकी कृति **'जैन धर्म की सांस्कृतिक विरासत'** तथा **डॉ. जगदीश प्रसाद जैन, दिल्ली** को

उनकी कृति 'JAINISM : A Way to Peace, Happiness & Social Well being' पर अपना राष्ट्रीय पुरस्कार २००३ प्रदान करने की घोषणा की।

प्रो. सुदर्शनलाल जैन, संस्कृत विभागाध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी वि. वि. के कला संकायाध्यक्ष बनाये गये।

श्री सुरेश जैन 'रितुराज' २८ फरवरी को भारतीय जैन मिलन के राष्ट्रीय अध्यक्ष निर्वाचित हुये।

उपर्युक्त सभी सम्मानित महानुभावों का उनकी उपलब्धियों के लिये **शोधादर्श** परिवार हार्दिक अभिनंदन करता है और उन्हें अपनी शुभकामना अर्पित करता है।

शोक संवेदन

११ नवम्बर, २००३ को श्री हस्तिनापुर दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र के जम्बूद्वीप परिसर में ८६ वर्षीय **श्री आनन्दप्रकाश जैन 'शांतिप्रय'** का आर्यिका अभयमती जी के सानिध्य में धर्मध्यानपूर्वक समाधिमरण हो गया। श्री आनंद प्रकाश हमारे घनिष्ठ बाल सखा थे तथा बी. ए. में सहपाठी भी रहे थे। धर्मपत्नी के स्वर्गवास के उपरांत पिछले ८-१० वर्षों से वे जम्बूद्वीप परिसर में अपना फ्लैट (प्रेम कुटीर) निर्माण कराकर वानप्रस्थाश्रम रूप में रह रहे थे तथा अपना सारा समय धर्मध्यान, योग साधना तथा बच्चों के धर्म प्रशिक्षण में लगाते थे। उनके निधन से हमारी वैयक्तिक क्षति हुई है।

१८ नवम्बर को आमेर में 'जैन दर्पण' के प्रबंध निदेशक तथा 'एडवर्ल्ड' के सम्पादक ३० वर्षीय **श्री हिमांशु जैन बड़जात्या** का आकस्मिक निधन हो गया।

२३ नवम्बर को देश के सुप्रसिद्ध बिल्डर एवं नैष्ठिक श्रावक **श्री अरविन्द दफ्तरी** इस संसार को छोड़ गये।

२८ जनवरी, २००४ को तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ.प्र., के आजीवन सदस्य और उसकी प्रबंध समिति के भी सदस्य तथा **'शोधादर्श'** के चिन्तनशील लेखक लगभग ८७ वर्षीय धर्मानुरागी, साहित्यानुरागी **श्री कैलाश भूषण जिंदल**, एडवोकेट का लखनऊ में शरीर शान्त हो गया।

१५ फरवरी को सुप्रसिद्ध समाजसेवी वयोवृद्ध **श्री हजारीमल बांठिया** का श्री कम्पिल जी तीर्थक्षेत्र पर स्वर्गवास हो गया। श्री बांठिया जी का श्री कम्पिल जी तीर्थक्षेत्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा था।

४ मार्च को अलीगंज (एटा) में 'अहिंसा वाणी' के सम्पादक, अनेक काव्य कृतियों के प्रणेता, समाजसेवी नैष्ठिक श्रावक लगभग ७३ वर्षीय **श्री वीरेन्द्र प्रसाद जैन** देह मुक्त हो गये।

उपर्युक्त सभी दिवंगत महानुभावों के प्रति **शोधादर्श** परिवार अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है, उनकी आत्मा की चिरशांति और सद्गति के लिये जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना करता है, और शोक संतप्त उनके स्वजनों-परिजनों के प्रति हार्दिक संवेदना व्यक्त करता है।

आभार

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ.प्र., के अध्यक्ष **श्री लूणकरण नाहर जी** ने समिति के शोध पुस्तकालय की लाइब्रेरियन कुमारी हेमा, एम.ए., को समर्पित भाव से कुशलतापूर्वक पुस्तकालय का संचालन करने के लिए रु. १५००/- के प्रोत्साहन पुरस्कार से सम्मानित किया।

डॉ. एस. के. जैन १०९/११, माडल हाउस, लखनऊ ने शोध पुस्तकालय के संवर्द्धन के लिये रु. २०००/- प्रदान किए।

श्री अखिल बंसल, सम्पादक, समन्वयवाणी, जयपुर ने अपने पितामह स्व. पं. चुन्नीलाल जी शास्त्री, चंदेरी (म.प्र.) की प्रथम पुण्यतिथि पर उनकी पुण्य स्मृति में रु. १००/- **शोधादर्श** को भेंट किये।

श्री रमाकान्त जैन, संयुक्त मंत्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ.प्र, ने दिनांक १४ जनवरी, २००४ को सम्पन्न अपने पौत्र चि. मधुरिम और पौत्री आयु. शगुन के कर्णच्छेदनोत्सव पर **शोधादर्श** को रु. १०१/- भेंट किये।

डॉ. शशिकांत-रमाकांत जैन, लखनऊ ने अपने पूज्य पिताजी स्व. डॉ. ज्योति प्रसाद जैन की ९२वीं जन्म जयन्ती पर उनकी पुण्य स्मृति में **शोधादर्श** को रु. ५१/- भेंट किये।

श्रीमती एवं श्री शिवकुमार कन्सल, अ. प्रा. मुख्य अभियन्ता, सिंचाई, उ.प्र., ने अपने समधी-समधिन डॉ. शशि कान्त एवं श्रीमती मंजरी जैन के परिणय की स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में **शोधादर्श** को रु. १००/- भेंट किये।

श्री अविनाश गर्ग, अग्रवाल बिल्डिंग, मकबरा रोड, हजरतगंज, लखनऊ ने २९ फरवरी, २००४ को अपनी सेवानिवृत्ति के उपलक्ष्य में **शोधादर्श** को रु. १०१/- प्रदान किये।

दिनांक २ मार्च २००४ को **श्री सुभाष जैन**, शकुन प्रकाशन, नई दिल्ली ने अपने बाल साहित्य प्रकाशनों की ४२ पुस्तिकाओं का सैट (मूल्य- रु० १,०८५/-) समिति के शोध पुस्तकालय को भेंट किया।

पाठकों के पत्र

शोधादर्श- ५१ में 'गुरुगुण-कीर्तन' के अन्तर्गत सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचंद्र शास्त्री जी का श्री रमाकान्त द्वारा प्रस्तुत परिचय पढ़कर हृदय खुशी से झूम उठा। उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व प्रेरणादायी है। कु. रेखा जैन दमोह का **मोक्ष शास्त्र** पर शोध लेख पूर्णता लिये है। 'समाचार विमर्श' सदैव की भांति समाज की अर्धनिद्रा को दर्पण दिखाने में सक्षम है। 'नवग्रह शांति मंदिर निर्माण' के बाद धर्म के ठेकेदारों को अभी न जाने क्या-क्या करना है? छठवे परमेष्ठी पर आपकी तीखी टिप्पणी है, जो शायद उनके भक्तों को न पचे। शोध की अनन्त संभावनाएं लिये **शोधादर्श** आगे बढ़ता जाये यही २००४ की हमारी शुभकामना है।

- पं. सुनील जैन 'संचय' दर्शनाचार्य, नरवां (सागर)

शोधादर्श यथासमय प्राप्त होता रहा है। समस्त सामग्री ज्ञानवर्धक व उपयोगी होती है। अंक ५१ बहुत ही अच्छा है।

- डॉ. दामोदर शास्त्री

अध्यक्ष- जैन दर्शनविभाग, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, जयपुर

शोधादर्श- ५१ में नीलमकांत ने मंगलाचरण की प्राचीनता पर सही सवाल उठाया है। कु. रेखा जैन का **तत्वार्थसूत्र** पर शोध नई शोध संभावनाएं प्रस्तुत करेगा। म. भगवानदीन की मौलिक सोच हमें झकझोरने में सफल हुई है। डॉ. विमल प्रकाश जैन ने हमारी दुर्दशा के कारणों को नंगा किया है। 'पाकिस्तान में जैन मंदिर' के लिये रमाकांत जी को बधाई। **शोधादश** का अपना विशिष्ट स्थान है- हर पृष्ठ अमृत मंथन का नवनीत परोसता है। जागरूक पत्रिका के रूप में यह इकलौती है।

-डॉ. अभयप्रकाश जैन, ग्वालियर

शोधादर्श-५१ में श्री कैलाशचंद्र शास्त्री और ब्र. सीतलप्रसाद पर लेखों में उनका जीवन प्रस्तुत कर सराहनीय कार्य किया है।

- शान्तिलाल जैन बैनाड़ा, आगरा

शोधादर्श नवम्बर अंक में भाई धन्यकुमार जी का लेख वास्तव में चिन्तन-मनन का विषय है। अंधविश्वास से दूर, सत्य पर आधारित और स्वयं के लिये स्वयं को सभी कुछ कर लेने का रास्ता सुझाया।

- साहू शैलेन्द्र कुमार जैन, खुर्जा

शोधादर्श- ५१ में प्रकाशित समस्त लेख रोचक एवं ज्ञानवर्धक लगे। 'उत्पीड़क कल्कि राजा का बीज दग्ध करें' लेख पर सम्पादकीय टिप्पणी समाज में व्याप्त अंधविश्वास और भ्रमों को दूर करने में सार्थक है।

- डॉ. शैलबाला शर्मा, कोटा

I am grateful for an excellent review of my book 'Veer Panchasika' at page 67 of Novr. 2003 issue of Shodhadarsh. The review shows the acumen of the editorial board and that you have thoroughly grasped the content and intention of the book under review.

A copy of the book can be had from me free of cost by interested readers

-A. L. Sancheti

'ALKA' D- 121, Shastri nagar, Jodhpur- 342003

शोधादर्श- ५१ पढ़ा। सभी लेख बहुत अच्छे हैं। 'क्या सच है, यह समझ न पाया' गीत में दार्शनिक अभिव्यक्ति का सुन्दर प्रस्तुतिकरण है। कु० रेखा का लेख वस्तुतः शोध लेख है। **तत्वार्थसूत्र** की सुन्दर समीक्षा के लिये लेखिका बधाई की पात्र है। लेख की भाषा प्रवाहशील, शब्द चयन अच्छा है। कृपया मुझे भी **शोधादर्श** का पाठक बनाने का कष्ट करें।

- जस्टिस पानाचन्द जैन (से. नि.)

२३, मयूर कालोनी, मालवीय नगर, जयपुर- ३०२०१७

शोधादर्श ५१ में आपने दोनों पुस्तिकाओं (**'बुद्ध-हृदय'** और **'प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्त'**) की समीक्षा अच्छी लिखी है। महात्मा भगवादीन जी का सर्वज्ञ वाक्य वाला अंश भी टिप्पणी के साथ छापा है- अच्छा लगा।

- जमनालाल जैन, सारनाथ

आपकी निर्मल सोच का प्रतीक **शोधादर्श**- ५१ प्राप्त हुआ। आप/आपकी टीम भारी परिश्रम करते हैं। मैं देखता हूँ कि अनेक लेखों और पत्रों के नीचे सम्पादकीय टीप देकर आप अपना मत तो ज़ाहिर करते ही हैं, पाठकों को संदर्भ जुटाने में मदद भी करते हैं। यह टीप देने का कार्य देशभर के पत्र-पत्रिकाओं के मध्य आप ही कर रहे हैं जो जटिल कार्य है।

आपके पत्र का आदर्श है बराबर, इसलिये उसका संज्ञाकरण 'शोधादर्श' बहुत उचित लगता है हर बार, हर अंक में। **– सुरेश जैन 'सरल', जबलपुर**

शोधादर्श नवम्बर २००३ में 'राम जन्म और तुलसीदास', 'अयोध्या की विवादित भूमि जैनियों को दिलवाने की मांग' और 'तीर्थंकर ऋषभदेव जन्मभूमि अयोध्या तीर्थ' इतिहास से संपुष्ट नहीं प्रतीत होते। 'पाकिस्तान में जैन मंदिर' तथा 'वीर निर्वाण स्थली पावा' लेख अच्छे हैं। **–दयानन्द जड़िया 'अबोध', लखनऊ**

शोधादर्श का प्रत्येक अंक अनुपम रहता है। पुस्तकालय में संग्रह लायक होता है। **– मूलचंद जैन, हरदा**

शोधादर्श- ५१ में रोचक सामग्री तो है ही, विशेषतः मेरे स्मरणीय मित्र डॉ. ज्योतिप्रसाद जी का लेख- 'तीर्थंकर जन्म कल्याणक का एक प्रस्तरांकन' मुझे विशेष महत्व का लगा। चित्र का अभाव अवश्य खटका।

– डॉ. नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, वाराणसी

शोधादर्श के सभी लेख उत्तम कोटि के हैं।

– राजेन्द्र प्रसाद जैन, नई दिल्ली

शोधादर्श में प्रकाशित सभी रचनायें ज्ञानवर्धक, पठनीय एवं संग्रह योग्य हैं। श्री सनत कुमार जैन के लेख 'जैन जातियां' में जैन समाज की सभी जातियों तथा बुन्देलखण्ड में 'तारण तरण समाज' (समैया समाज) का उल्लेख नहीं है। मध्यप्रदेश में सागर, जबलपुर, विदिशा, भोपाल, छिंदवाड़ा में बहुतायत से तथा उत्तर प्रदेश व दिल्ली में भी तारण तरण समाज है जो शुद्ध अध्यात्म की पोषक है।

– डालचंद्र जैन, सागर

शोधादर्श नवम्बर २००३ अंक में पं. कैलाशचंद्र जी शास्त्री की कृतियों के बारे में जानकारी मिली। सभी लेख पठनीय हैं और हर अंक संग्रहणीय है। इसमें साहित्य-सत्कार के अन्तर्गत एक ही बार में अनेक कृतियों की जानकारी मिल जाती है। सचमुच एकदम अनोखी पत्रिका है।

–श्रीमती बबीता जैन, जयपुर

शोधादर्श- ५१ से बहुत कुछ तथ्यों का निराकरण मिला और भ्रान्तियां दूर हुईं। श्री उदयमुनि म. के लेख 'निर्ग्रन्थ मेरे गुरु' में निर्ग्रन्थता की परिभाषा उत्तम रूप से आगमानुसार दी गई है। साथ ही यह भी दर्शाया है जो दिगम्बर होकर लोक प्रसिद्धि के लिये जन्तर-मन्तर, टोने-टोटके करता है वह आत्मकल्याण नहीं करता, वह धर्म से कोसों दूर है।

'तीर्थंकर ऋषभदेव जन्मभूमि अयोध्या तीर्थ' लेख में आपने नये निर्माण के नाम पर हो रही विकृतियों एवं पन्थवाद को उजागर किया। समाचार पत्रों में विज्ञापनों द्वारा निर्माण-प्रचार में वस्तुतः स्वार्थसिद्धि, पन्थवाद, व्यक्तिवाद और उन पर आधिपत्य समाहित है।

शोधादर्श- ५१ में अनेक स्तम्भ विशेष पठनीय, मननीय और चिन्तनीय हैं। उनके माध्यम से जनसाधारण को वास्तविकता की जानकारी प्राप्त होती है। यह भी समाज की एक बड़ी उपलब्धि है।

- पं. सरमनलाल जैन 'दिवाकर' शास्त्री, हस्तिनापुर

पठनीय सामग्री से ओतप्रोत **शोधादर्श** - ५१ में पं. कैलाशचंद्र शास्त्री का परिचय पाकर निश्चय ही ज्ञानवृद्धि हुई। डॉ. ज्योति प्रसाद जी का लेख 'तीर्थंकर जन्म कल्याणक का एक प्रस्तरांकन' अच्छी जानकारी देता है। ब्र. सीतलप्रसाद विषयक जानकारी भी मेरे लिये नवीन रही। साहू शैलेन्द्र जी के ठंड के दिन के नुस्खे व्यावहारिक हैं। पद्य रचनाएं प्रेरणास्पद हैं और पुस्तक समीक्षा पुस्तकें देखने की ललक जगाती है।

- मदन मोहन वर्मा, ग्वालियर

जीवन के नवम दशक में भी आप युवाओं जैसी सम्पादित नित नवीन विकृतियों को प्रकट करने वाली तथा समाज को दिशा बोध देने वाली विचारोत्तेजक सामग्री **शोधादर्श** के माध्यम से समाज को समर्पित भाव से सुलभ करा रहे हैं। आप धर्म और समाज को निरन्तर दिशा देते रहें, यही कामना है।

शोधादर्श -५१ में पूर्ववत् धर्म, समाज, संस्कृति एवं इतिहास के विविध आयामों को कुशलतापूर्वक संजोया गया है। डॉ. विमल प्रकाश जी, महात्मा भगवानदीन एवं श्री रमाकान्त के विचारोत्तेजक लेखों के साथ ही आपका सम्पादकीय 'वीर निर्वाण स्थली पावा' शोध की अपेक्षा रखता है। उसमें आपने गणिनी ज्ञानमती माताजी द्वारा वर्तमान पावापुरी (नालन्दा के निकट की) के पक्ष में 'सम्यग्ज्ञान' पत्रिका (अक्टूबर ०३) में प्रकाशित उनके लेख में दिए तर्कों का बड़े ही सुन्दर ढंग से खंडन किया है।

यह विचारणीय है कि हमारे महाव्रती मुनि/आर्यिकाओं का भवन निर्माण, जन्मभूमि विकास, विविध आयोजनों से धन संग्रह, संस्थानों की स्थापना जैसे प्रत्यक्ष में हिंसा एवं परिग्रहमूलक कार्यों में गृहस्थों जैसा संलग्न होना कहाँ तक उचित या क्षम्य है और इसकी क्या सीमा है तथा क्या इन कार्यों के सद्भाव में द्रव्य दीक्षा भी कही

जा सकती है। सुधी जन और आगम मर्मज्ञ महानुभाव दिशाबोध करावें।

- डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल, अमलाई

शोधादर्श- ५१ के सम्पादकीय लेख 'वीर निर्वाण स्थली-पावा' को (किंचित् संक्षिप्त कर) **णमो तित्थस्स** मासिक के जनवरी २००४ के अंक में प्रमुखता के साथ पुनर्प्रकाशित करते हुए उसके विद्वान सम्पादक जी अपनी टिप्पणी में लिखते हैं, "समाज को विद्वानों के शोधपूर्ण तथ्यों को सम्मान देने की आवश्यकता है। श्री अजित प्रसाद जी जैन जैसे विद्वान अपनी शोध को अक्षरशः लिखने में संकोच नहीं करते।"

- ललित कुमार नाहटा
सम्पादक- णमो तित्थस्स

शोधादर्श- ५१ में रमाकान्त व शशिकान्त भाइयों की लेखमाला का एक बहुत बड़ा काम हो रहा है। अगले किसी अंक में भाई शशिकांत सीतलप्रसाद जी के कृतित्व खासकर तारण स्वामी के ग्रंथों के अनुवाद के बारे में चर्चा करेंगे, ऐसी आशा है। कु. रेखा **तत्वार्थ सूत्र** पर शोध कार्य कर रही हैं। **तत्वार्थ सूत्र** की विषय वस्तु का सार सराहनीय है। **नाग्न्य परीषह** (६/१०), **एकादश जिने** (६/११) व **अंतिम सूत्र** (१०/६) खास विचार के विषय हैं। **अंतिम सूत्र** में सिद्धों के भी लिंग भेद हैं, इसकी व्याख्या जो आचार्य ने की है कहाँ तक सही है? खगोल भूगोल पर जो कुछ **तत्वार्थ सूत्र** में लिखा गया है, वह अब कहाँ तक सही ठहरता है? **तत्वार्थ सूत्र** की रचना गुजरात में हुई या बिहार में? ये चन्द बातें मैंने शोध छात्रा के लिए ही नहीं उनके गाइड डॉ. शिवदर्शन तिवारी और डॉ. भागचंद जैन जैसे प्रखर विद्वानों के विचार के लिए खास कर लिखी है। **- जस्टिस एम. एल. जैन**

शोधादर्श- ५१ में प्रकाशित मेरे लेख 'जैन जातियों' पर आपकी सम्पादकीय टिप्पणी तथा तदनन्तर आपके पत्र से काफी जानकारी मिली। मैंने अपने लेख में लिखा था कि बुन्देलखण्ड की परवार, गोलालारे, गोलापूर्व, गोल सिंघारे जातियां अग्रवाल जाति से ही निकली हैं। मैंने कई परवार परिवारों से सम्पर्क किया तो ज्ञात हुआ कि पश्चिमी उत्तर प्रदेश से ही ४००-५०० वर्ष पूर्व आकर उनके पूर्वज यहां बसे थे। हमारे बड़े दामाद परवार जाति के ही हैं तथा उनका मूल स्थान हस्तिनापुर है और बुन्देलखण्ड में कई पीढ़ियों से हैं। इनका गोत्र बांझल है जो अग्रवाल जाति के गोत्र बंसल से मिलता हे। इसी प्रकार परवारों के और भी कई गोत्र अग्रवालों के गोत्रों से मिलते जुलते हैं, जैसे गोयल आदि।

-सनतकुमार जैन, रायपुर

(**सम्पादकीय टिप्पणी**- जयपुर से प्रकाशित हमारी 'समन्वयवाणी' पत्रिका के सम्पादक श्री अखिल (जो परवार हैं) अपने नाम के साथ बंसल ही लिखते हैं (बांझल नहीं)। और भी अनेक परवार परिवार इसी प्रकार अग्रवालों से मिलते गोत्र अपने नाम के साथ लिखते हैं।। परवार जातियां मूल में अग्रवाल जाति से ही निकली है, यह गंभीर चिंतन तथा शोध खोज का विषय है जिस पर इन जातियों के इतिहासकार विद्वानों का ध्यान अपेक्षित है- अजित प्रसाद जैन)

आर्यिका का स्टेटस 'श्री १०५' से ही स्पष्ट है कि वे श्रावक शिरोमणि क्षुल्लक व ऐलक से अधिक नहीं मानी गई हैं। 'गणिनी' शब्द गणधर भगवन्तों के समकक्ष समझे जाने के लिए कोई विशेष मायाचारियों के ही विज्ञापक प्रस्तुत कर सकते हैं। इतना तो साधारण व्यक्ति भी जानते हैं।

शोधादर्श हमें धर्म का मर्म समझने के लालच में पूरा पढ़ना पड़ता है तो स्वयंभू विद्वानों-त्यागियों द्वारा किस प्रकार केवली प्रणीत धर्म का अवर्णवाद किया जा रहा है, इसकी भी संक्षेप में जानकारी मिल जाती है। यह भी विचार आता है कि सम्पादक इस प्रकार तो प्रपंचियों का ही प्रचार कर रहे हैं। समाधान भी तुरन्त हो जाता है कि यदि ऐसा न करते तो प्रपंची यही समझते कि उनकी सफलता समाज के विज्ञ-प्रबुद्ध वर्ग ने भी स्वीकार कर ली है। परम पूज्य मौनप्रिय, समाजोद्धारक, धर्म दिवाकर, चारित्र-चक्रवर्ती आदि से अलंकृत दुखमा (पंचमकाल) के धर्म-शिरोमणि, वैज्ञानिक-आविष्कारक, आचार्य-तपस्वी (उतम तप धर्मांग की मोनोपोली वेशधारी विज्ञापकों के ही पास है)- अन्तिम प्रलय काल (दुखमा-सुखमा काल) का रूप अभी (३६००० वर्ष पहिले ही) प्रत्यक्ष दिखा रहे हैं। शेष समय इससे अधिक क्या होगा? इस जिज्ञासा का भी कुछ समाधान प्रधान सम्पादक जी देने की कृपा करें।

- सुखमालचंद्र जैन, नई दिल्ली

(**सम्पादकीय टिप्पणी**- सेना मुख्यालय से उच्च्य प्रशासनिक पद से सेवानिवृत्त, वयोवृद्ध (६४ वर्षीय), ज्ञानवृद्ध बंधुवर सुखमाल चन्द्र जी एक गंभीर चिन्तक हैं जो वर्तमान में धर्म के ठेकेदार बने कतिपय धर्म गुरुओं, गुरुणियों द्वारा धर्म क्षेत्र को ही अपने यश ख्याति धनार्जन का साधन बनाने से धर्म-क्षेत्र में पैदा हो रही विकृतियों से तथा भविष्य की और भी अधिक भयावह स्थिति का अनुमान लगाकर व्यथित हैं। हम निराशावादी नहीं हैं। मध्ययुगीन यवन शासन काल में तो धर्म क्षेत्र और भी अधिक भयावह स्थिति से गुजर चुका है जब धर्म गुरु सर्व सुविधाभोगी मठाधीश महन्त बन गये थे। धार्मिक-सामाजिक क्षेत्र में भी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं पर जिस प्रकार

अमावस्या की घोर अंधियारी रात्रि के बाद सुप्रभात होता है, धर्म क्षेत्र को विकृतियों से उबारने के लिए समर्पित धर्म-समाज सेवक भी पैदा होते रहेंगे। २०वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में समाज ऐसे धर्म समाज की विकृतियों से उबारने वाले महान् समाजसेवियों के प्रत्यक्ष दर्शन कर चुकी है। **- अजित प्रसाद जैन)**

शोधादर्श- ५१ प्राप्त हुआ। **शोधादर्श** अपने नए रंग रूप में निखर रहा है। वास्तव में उसमें एक नयापन आ गया है। आपकी जागरूकता के कारण सामग्री भी विशेष पठनीय आ रही है। ज्ञानवर्द्धक सम्पादन के लिए धन्यवाद, बधाई!

इसके पृष्ठ ५७ पर प्रकाशित जस्टिस एम. एल. जैन की रामजन्मभूमि और तुलसीदास विषयक टिप्पणी, जिस पर आपकी भी अनुमोदनात्मक मुहर लगी है, इतिहास के विपरीत है। तुलसीदास जी का जन्म संवत् १५८९ मान्य है। तुलसी ने अपने इष्ट रघुनाथ जी की गाथा को अपनी आस्था और रुचि के अनुसार छन्दोबद्ध किया है। वे महज एक कवि थे, इतिहासकार नहीं थे। न ही वे रामजन्मभूमि का इतिहास लिख रहे थे। रामजन्म एक मिथिक कल्पना है, यह जस्टिस साहब ही सोचते हैं, जन सामान्य नहीं। आगे पृष्ठ ५८-६० पर समाचार-विमर्श में आपके विचार भी विषय को उलझाने वाले ही हैं। कृपया पहले रामजन्म भूमि विषयक समस्त प्राप्त तथ्यों की जांच पड़ताल कर लेने का कष्ट करें। **- वेदप्रकाश गर्ग, मुजफ्फरनगर**

(**सम्पादकीय टिप्पणी-** जस्टिस जैन की टिप्पणी में तुलसीदास जी की जीवन संबंधी तिथियों का क्या आधार है, इसके लिए श्री गर्ग उनसे सीधे सम्पर्क कर ज्ञात कर सकते हैं। हमारा उनकी तिथियों के विषय में कोई आग्रह नहीं है, न ही अध्ययन है। वैसे गत वर्ष के साहित्य अकादमी पुरस्कार विजेता साहित्यकार श्री कमलेश्वर भी यह मानते हैं कि बाबर के शासनकाल में तुलसीदास जी बच्चे रहे होंगे। अपने पुरस्कृत उपन्यास "कितने पाकिस्तान" में वह (कब्र से उठाए गए) बाबर के मुख से कहलाते हैं- "मैंने तो कभी तुलसीदास का नाम तक नहीं सुना जिसने हिन्दुओं के राम को भगवान बनाया। मेरे दौर में राम भगवान थे ही नहीं तो मैं उनका मंदिर क्या तोड़ता-- अब सोचिए उस वक्त हिन्दुओं के कृष्ण को भगवान और अवतार मंजूर किया जा चुका था। उनका जन्म स्थान मथुरा में था- मेरी राजधानी आगरा से सिर्फ ५० मील दूर --अगर मुझे तोड़ना होता तो मैं कृष्ण का जन्म स्थान न तोड़ता?--राम तो हुए भगवान तुलसीदास के बाद और मेरे सामने तुलसीदास बच्चा था। उसने रामायण मेरे मरने के बाद लिखी..।"

जस्टिस जैन ने राम के चतुर्भुज रूप में जन्म लेने की कथा को मिथक कल्पना लिखा है (न कि उनके जन्म को ही) जिसका तथा उनके इस कथ्य का हमने अनुमोदन किया है कि इसका कोई ज्ञात आधार नहीं है कि राम जन्म विवादित स्थल पर ही हुआ था।

समाचार विमर्श (पृष्ठ ५८-६० पर) हमारी टिप्पणी श्वेताम्बर जैन (साप्ताहिक) में छपे समाचार के कथ्यों पर आधारित हैं।

श्री राम इस देश के एक ऐसे प्रागू ऐतिहासिक महापुरुष हैं जिनके उदात्त चरित्र ने लोक मानस को अत्यधिक प्रभावित किया। रामकथा के इस देश में अनेकरूप प्रचलित हैं, केवल वाल्मीकि-तुलसी वाला रूप ही नहीं, जैन, बौद्ध, अध्यात्म रामायण आदि रूप भी हैं जिनमें वाल्मीकि-तुलसी के वर्णनों से अनेक स्थलों पर भारी भिन्नता है। आज यह निर्णय करना संभव ही नहीं है कि राम कथा का कौन सा रूप सत्य है या सत्य के अतिनिकट है तथापि सत्यांश तो सभी में है। जैन परम्परा की रामकथा भी वाल्मीकि रामायण से कम प्राचीन नहीं है। उसमें राम को जन्मतः भगवान या भगवान का अवतार तो नहीं दर्शाया गया है, वरन् एक ऐसे महापुरुष के रूप में चित्रित किया गया है जो अपने अलौकिक कृत्यों से कीर्ति के शिखर पुरुष बने और जिन्होंने जीवन के अंतिम चरण में सन्यास लेकर तपस्या की और मोक्ष पद प्राप्त किया। जैन परम्परा में उनकी गिनती भारतीय इतिहास के शलाका पुरुषों में की जाती है।

अयोध्या श्री राम से भी सहस्रों वर्ष पहिले जन्मे श्री ऋषभदेव व अन्य चार तीर्थंकरों की जन्मभूमि रही है। हमारा आशय विवादग्रस्त स्थल के विषय में कोई नया विवाद या दावा खड़ा करने का नहीं था, मात्र कतिपय संबंधित तथ्यों पर प्रकाश डालना था। - अजित प्रसाद जैन)

शोधादर्श - ५२ में प्रकाशित सभी रचनायें न केवल पठनीय हैं वरन् मननीय भी हैं। इनमें उदात्त जीवन जीने की अदम्य प्रेरणा है। ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद की १२५ वीं जयन्ती पर डॉ० शशिकान्त का संस्मरणात्मक लेख रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक है। आपका सम्पादकीय 'वीर निर्वाण स्थली पावा' पर्याप्त शोधपरक है। आपकी सम्पादकीय मेधा को मैं सादर प्रणाम करता हूँ। **- डॉ० गणेशदत्त सारस्वत, सीतापुर**

शोधादर्श अपनी शोधपरक, चिन्तनपरक और उद्बोधक रचनाओं के कारण एक उच्चकोटि की पत्रिका है। अंक ५१ में 'गुरुगुणकीर्तन' के अन्तर्गत पण्डित कैलाशचंद्र शास्त्री पर तथा डॉ. शशिकांत का ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद पर दोनों ही लेख

शोधपरक और ज्ञानवर्द्धक हैं। 'पाकिस्तान में जैन मंदिर और जैन जन' लेख इस भ्रम का खण्डन करता है कि पाकिस्तान में अब हिन्दू अथवा जैन मन्दिर बिल्कुल नहीं रहे। स्व. ज्योति प्रसाद जैन का पुनर्प्रकाशित लेख 'तीर्थंकर जन्म कल्याणक का एक प्रस्तरांकन' सर्वाधिक महत्वपूर्ण लगा। उक्त दृश्यांकन पर घटित होने वाले जैन कथानक के सम्पूर्ण संदर्भ भी लेख में होते तो अच्छा होता ताकि उन ग्रन्थों के रचना काल से उक्त प्रस्तरांकन के रचनाकाल की संगति (संपुष्टि) बिठाई जा सकती। यह भी ध्यातव्य है कि क्या निःसन्देहास्पद अथवा उपयुक्त लेख युक्त ऐसा कोई अन्य जैनमूर्ति शिल्प ज्ञात है?

पिछले अंक का सम्पादकीय अत्यन्त ज्ञानवर्धक और विचारोत्तेजक था। उसमें ''णायाधम्म कहा' का तर्कपूर्ण शाब्दिक अर्थ प्रस्तुत किया गया तथा कतिपय जिज्ञासाएं जागृत की गई, यथा- भ. पार्श्वनाथ और भ. सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों पर फणावलि क्यों बनाई जाती है। उसी अंक में श्री रमाकान्त जैन का लेख 'अकबर और जैन धर्म' सामयिक और धार्मिक सौहार्द प्रतिबिम्बित करने वाला लगा।

- डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव, लखनऊ

जैन समाज को दिशा देने में **शोधादर्श** का योगदान अमूल्य है। पं. कैलाशचंद्र शास्त्री और ब्र. सीतलप्रसाद जी का परिचय तथा महात्मा भगवानदीन का लेख प्रकाशित कर स्तुत्य कार्य किया है। श्री रमाकान्त जी की क्षणिकायें चुटीले अन्दाज में सभी को झकझोरती हैं। पाकिस्तान के जैन मंदिरों की सूचना ज्ञानवर्द्धक है।

'तीर्थंकर ऋषभदेव जन्मभूमि अयोध्या तीर्थ' विषयक समाचार विमर्श के संदर्भ में उल्लेखनीय है कि वहाँ के धर्मस्थलों से काफी खिलवाड़ किया गया है। सीतलनामा मुनि के चरण चिन्हों के साथ भरत-बाहुबली के जन्म स्थल स्थापित किये गये हैं। तीर्थंकर अनन्तनाथ की जन्म कल्याणक टोंक पर चक्रवर्ती सम्राटों आदि के चरण चिह्न स्थापित किये गये हैं।

-आदित्य जैन, कानपुर

सूचना

डॉ. नेमिचंद जैन पुरस्कार रु. ५१००/- हेतु प्रकाशित आध्यात्मिक/शाकाहार साहित्य (चार प्रतियां) अथवा आध्यात्मिक एवं शाकाहार क्षेत्र में किये गये उल्लेखनीय कार्य का विवरण (चार प्रतियां) **३१ मई, २००४ तक** श्री किशनचंद बोथरा द्वारा १ बी, रिको, रोड नं. १, रानी बाजार, औद्योगिक क्षेत्र, बीकानेर-३३४००१ पते पर आमंत्रित किया गया है।

आवश्यक सूचना

इस वर्ष का वार्षिक शुल्क ५० रु. (पचास रुपये), यदि अभी नहीं भेजा हो, तो कृपया मनीआर्डर द्वारा 'महामंत्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ. प्र., पारस सदन, आर्य नगर, लखनऊ-२२६ ००४', को शीघ्र ही भेजने का अनुग्रह करें। चेक लखनऊ के ही स्वीकार होंगे। एक प्रति का मूल्य २० रु. (बीस रुपये) है।

शोधादर्श चातुर्मासिक पत्रिका है और सामान्यतया इसके अंक मार्च, जुलाई व नवम्बर में प्रकाशित होते हैं।

शोधादर्श में प्रकाशनार्थ शोधपरक एवं अप्रकाशित लेख आमंत्रित हैं। लेख कागज के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखित अथवा टंकित होना चाहिये और उसमें यथावश्यक सन्दर्भ/स्रोत सूचित किये जाने चाहिएं। यथासंभव लेख ३-४ टंकित पृष्ठ से अधिक न हो। **लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रख लें।**

शोधादर्श में समीक्षार्थ पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं की **दो प्रतियां** भेजी जायें।

शोधादर्श में प्रकाशित लेखों को उद्धरित किये जाने में आपत्ति नहीं है, परन्तु **शोधादर्श** का श्रेय स्वीकार किया जाना और पूर्ण सन्दर्भ दिया जाना अपेक्षित है।

प्रकाशनार्थ लेख और समीक्षार्थ पुस्तक/पत्रिका सम्पादक को पारस सदन, आर्य नगर, लखनऊ-२२६ ००४, के पते पर भेजे जायें।

लेखक के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी है।

सभी विवाद लखनऊ में स्थित सक्षम न्यायालयों /न्यायाधिकरणों के क्षेत्राधिकार के अधीन होंगे।

सुधी पाठक कृपया अपनी सम्मति और सुझावों से अवगत करावें ताकि पत्रिका के स्तर को बनाये रखने और उन्नत करने में हमें प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन प्राप्त होता रहे। कृपया पत्रिका पहुंचने की सूचना भी देवें।

- प्रधान सम्पादक

❑❑❑